

आधुनिकता और पेगन सभ्यताएँ

सुरेश शर्मा से उदयन वाजपेयी की लम्बी बातचीत

इतिहासकार और चिंतक सुरेश शर्मा के साभ्यतिक चिंतन के अनुपम उदाहरण के रूप में यह लम्बा साक्षात्कार *समास* पत्रिका के छठे अंक में प्रकाशित हुआ था। *प्रतिमान* में इसका पुनर्प्रकाशन न केवल सुरेश शर्मा के प्रति श्रद्धांजलि है, बल्कि इसके पीछे इतिहास-दृष्टि से संबंधित कुछ खोये हुए सरोकारों को हिंदी की विमर्शी दुनिया के बीच चर्चा के केंद्र में लाने की कोशिश भी है। दरअसल, सुरेश जैसे समाज-चिंतक और उदयन जैसे कवि और सम्पादक के बीच हुई यह बातचीत युरोप, आधुनिकता और ईसाई-चिंतन की अंतर्गुम्फित संरचनाओं के चौतरफ़ा वर्चस्व में वैचारिक चलन से बाहर हो गये ऐतिहासिक यथार्थ को एक ख़ास तरह की मुलायमियत और नफ़ासत के साथ उभार कर सामने ले आती है।

उदयन वाजपेयी : मुझे यह पता है कि आपका बचपन और कैशोर्य कई देशों में बीते हैं। आपने कुछ वर्ष चीन में भी बिताए हैं। आपने विभिन्न सभ्यताओं की अंतर्संबंधों पर जो विचार-विमर्श किया है, उस पर आपके चीन के अध्ययन का बहुत प्रभाव दीखता है इसलिए हम यह जानने को उत्सुक हैं कि चीन में आपको किस तरह के अनुभव हुए। क्या आप उन दिनों की स्मृतियों को हमसे साझा करना चाहेंगे ?

सुरेश शर्मा : मेरा चीन प्रवास 1955 से 1959 की शुरुआत तक रहा। उन वर्षों में वहाँ के शासकों का यह प्रयास था कि चीन अपने अतीत से अधिक से अधिक फ़ासला बना सके। अपने अतीत को तिरोहित करने, तिरस्कृत करने का वहाँ गम्भीर प्रयास हो रहा था। वह प्रयास इतने व्यापक पैमाने पर था कि जीवन का एक भी पहलू इससे अछूता नहीं बचा था। मेरी उन दिनों की यादों में माओ का वह कथन है जहाँ उन्होंने कहा था कि अन्न मनुष्यों के लिए उगता है और चिड़िया उसका बड़ा अंश खा जाती हैं इसलिए उन्हें ख़त्म कर देना चाहिए। इस कथन के आलोक में उन्होंने गौरैयों के पूर्ण विनाश का विराट अभियान चलाया था। उस अभियान में ढेरों लोग शामिल हुए थे। लोग तमाम तरह की आवाज़ें करने वाली चीज़ें हाथों में उठाए सड़कों पर घूमा करते थे। चीन के वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया था कि अगर गौरैया को दो घण्टों तक बैठने न दिया जाए तो वह थक कर अपने आप ज़मीन पर गिर जाती है। इसलिए लोगों का यह प्रयास रहता था कि वे गौरैयों को क्षणभर भी कहीं बैठने न दें, कोशिश रहती थी कि वे इन चिड़ियों को लगातार डराते रहें ताकि वे उड़ते रहने को विवश हो जाएँ।

हमारे घर में एक छोटी-सी बग़ीची होती थी, वहाँ कई गौरैयों ने शरण ले ली थी। गौरैयों को हमारी बग़ीची में शरण लेते देख, बहुत से लोग इकट्ठा हो गये और हमसे बोले कि चेयरमेन माओ के आदेश से हमें गौरैयों को ख़त्म करना है, इसलिए आप हमें बग़ीची में घुसने की इजाज़त दें कि हम आपके पेड़ों में छिपी गौरैयों को मार सकें। हमारी माँ ने उनसे कहा, 'यह नहीं हो सकता।' उन लोगों ने कुछ विस्मय से शिकायत की, 'आप ऐसा क्यों कह रही हैं, ये गौरैया हमारा इतना सारा खाना खा जाती हैं। मनुष्यों के लिए उगे अन्न को ये खा जाती हैं' हमारी माँ ने उनसे कहा, 'हम तो अपने खाने में से इनको खाने को देते हैं।' कुछ देर की चुप्पी बाद उस जमघट में से किसी ने कहा, 'यह बढ़िया तरक़ीब है, आप ज़रूर उनके खाने में ज़हर मिला देती होंगी।' मुझे नहीं पता कि उन्होंने यह बात मज़ाक में कही थी या वे ऐसा ही मानते थे। मसला यहीं आकर ख़त्म हो गया। मेरे पिता दूतावास में थे इसलिए उनके बग़ीचे में जबरन प्रवेश करना मुश्किल था। मुझे वह दृश्य आज भी बहुत साफ़-साफ़ याद है। सालों बाद मैंने कहीं पढ़ा कि उन वर्षों में चूँकि गौरैयों को बड़ी संख्या में मार दिया गया था इसलिए चीन के खेतों में कीड़ों की संख्या बहुत अधिक हो गयी। फिर से संतुलन क़ायम करने की ख़ातिर चीन को बड़े पैमाने पर गौरैयों का आस्ट्रेलिया से आयात करना पड़ा था। इसी तरह, वहाँ चूहों के ख़िलाफ़ भी अभियान चलाया गया था।

उदयन : उसके पीछे भी वही तर्क था ?

सुरेश : हाँ, उसके पीछे भी तर्क वही था। लेकिन उसमें सफलता कम ही मिल पायी। मेरी दूसरी याद चीनी मिट्टी के बर्तनों को लेकर है। पकी मिट्टी के चमकीले बर्तनों के बनने की शुरुआत चीन में हुई थी इसीलिए उन्हें चीनी मिट्टी के बर्तन कहा जाता है। युरोप की भाषाओं में भी 'चायना' का अर्थ 'ग्लेज़ड पोटरी' ही है। ये बहुत महँगे हुआ करते थे, ख़ासतौर पर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के मिंग काल की नीली-सफ़ेद पॉटरी इतनी नफ़ीस थी कि उनके कुछ हिस्से लगभग पारदर्शी हुआ करते थे, उनकी दीवारों से प्रकाश छनकर भीतर झलकता था, अगर वे बर्तन टूट जाते थे, उन्हें रिवट लगाकर जोड़ने का प्रचलन था। वे रिवट पीतल के होते थे। बर्तनों को इस बारीकी से जोड़ा जाता था कि उनमें आप पानी भी पी सकते थे, वह रिसकर बाहर नहीं आता था। इन टूटे बर्तनों को जोड़ने वाले कारीगर

साइकिलों पर मुहल्लों में घूमा करते थे। उनकी विशेष आवाज़ हुआ करती थी जिसे पहचान कर लोग अपने टूटे चीनी मिट्टी के बर्तनों को सुधारने उन्हें बुलाते थे। यह बड़े ऊँचे दर्जे की कारीगरी हुआ करती थी। इस संदर्भ में मैं सन् साठ के दशक के अंतिम वर्षों की एक घटना का ज़िक्र करना चाहूँगा : दिल्ली के पुराने क़िले में हुई खुदाई में मिले रिवट लगे कुछ मिंग पॉटरी के अवशेष प्रोफ़ेसर टान चुंग को निरीक्षण के लिए भेजे गये थे। उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मिंग पॉटरी के साथ-साथ रिवट लगाने की कारीगरी का आयात सम्भवत: उस समय भारत से हुआ होगा। अब वह कला-कौशल चीन में भी नहीं बचा होगा। चीन अब बिल्कुल बदल गया है।

अब मैं कौशल-कारीगरी को प्राचीन चीन के बचे रह गये सिलसिले की तरह देखता हूँ। यह बात अलग है कि उन दिनों तो वह मेरे लिए महज़ एक कुतूहल का विषय हुआ करती थी। मैंने उन्हें चीनी मिट्टी के टुकड़ों को जोड़ते हुए कई बार देखा था। वे टुकड़ों को उठाते थे, उनमें दो सुराख करते थे और उनमें पीतल के रिवट डालते थे। परम्पराओं से जुड़ी नित्य कर्म की चीज़ें इसी तरह हर जगह बची रहा करती हैं। लेकिन जब कोई बहुत उथल-पुथल का समय आता है और समस्त जीवन-अस्तित्व के दार्शनिक आधार तिरस्कृत होने लगते हैं, उनके राजनीतिक-सामाजिक आधार भी ध्वस्त हो जाते हैं तब भी सामान्य जीवन जीने के साथ जुड़ी हुई वस्तुएँ बची रहती हैं। उन्हें ध्वस्त करना मुमकिन नहीं होता। उनको ध्वस्त करने की ज़रूरत भी उस तरह महसूस नहीं की जाती। यह अवश्य है कि विशेष संदर्भों में ऐसी ज़रूरत भी महसूस की जाने लगती है। उदाहरण के लिए युरोप में ईसाई धर्म के वर्चस्व के बाद रोमन स्नानागार बंद कर दिये गये थे। इसका एक परिणाम यह हुआ कि युरोप में रोज़ नहाने की परम्परा समाप्त हो गयी। यह परम्परा दोबारा उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो सकी। यह दोबारा शुरू होना भी कुछ हद तक ही होता है। इसीलिए येरूसलम की फ़तह के लिए शुरू किये गये क्रुसेड के दौरान जब युरोप से लोग येरूसलम जाते, या सीरिया जाते, तो उन्हें वहाँ के हमाम अद्भुत जान पड़ते थे क्योंकि ये वे चीज़ें थीं जो उनके अनुभव और स्मृति से निकल चुकी थीं। पर वे रोमन सभ्यता के महत्त्वपूर्ण स्थल थे। ऐसी चीज़ें मिटती हैं लेकिन विशेष कारणवश ही ऐसा हुआ करता है। इनके नष्ट होने के पीछे कोई बड़ा धर्मशास्त्रीय या राजनीतिक या दार्शनिक तर्क हुआ करता है।

उदयन : शायद इसीलिए जब आपकी माँ ने गौरैयों को बचाने की बात की होगी, उन्हें मारने आये लोग उनकी बात को समझ गये होंगे।

सुरेश : आज मुझे ऐसा लगता है कि उन्माद भरे उस जमघट में भी कुछ लोग उस बात को अवश्य समझे होंगे। हालाँकि उनके लिए भी संदर्भ और काल का ख़ौफ़ इतना तीव्र रहा होगा कि उन्हें उस पहचान को स्वयं से भी छिपाना ज़रूरी लगा होगा।

उदयन : वे कुछ लोग यह अवश्य जानते होंगे कि भले ही माओ त्से तुंग ने किसी राजनीति के तहत गौरैयों को मारने का अभियान चलवाया है पर उनके गहनतम अंतस में यह बात अवश्य रही होगी कि गौरैयें उनके अपने जीवन का ही अंग रही हैं। जैसे कि संसार की लगभग सभी सभ्यताओं में पशु-पक्षी मनुष्य के जीवन का अभिन्न अंग रहे हैं।

सुरेश : यह बात निश्चय ही उनके अंतस में रही होगी। मैं एक और बात आपके सामने रखता हूँ। सामान्य जीवन की लय में कुछ चीज़ें अनायास ही जीवित रह जाती हैं।

इस बिंदु पर मैं सामान्य जीवन की लय का इतिहास के विराट परिप्रेक्ष्य में ज़िक्र करना चाहूँगा। सामान्य जीवन-लय में कुछ चीज़ों का अनायास जीवित रह जाना, मानव अस्तित्व के विशेष आयाम को इंगित करता है। जीवन-शैली, चिंतन-विधा, एक ही स्वर, एक ही धुरी में बाँधने-समेटने के बहुत से निर्मम प्रयास हुए हैं। लेकिन उनको सफलता आंशिक ही मिल पायी। मार्क्सवादी परम्परा में

विशेषतया, लेकिन युरोप में और हमारे यहाँ भी यही कहा जाता रहा है कि राजनीति से परे कुछ भी नहीं है। माओ के चीन में गौरैयें राजनीतिक वस्तु हो गयी थीं, वे प्रकृति का एक सहज अंग नहीं बची थीं। हर चीज़ को राजनीतिक अस्तित्व देना, उसे एक राजनीतिक यथार्थ बनाना बहुत ही ख़तरनाक रुझान है, सोच के लिए भी, जीवन के लिए भी। बीसवीं शताब्दी में बहुत बड़े पैमाने पर इसका प्रयोग हुआ और वर्चस्व बना। वह प्रवृत्ति अभी भी समाप्त नहीं हुई है, बार-बार लौटकर आती है। यह विचार कि कुछ भी मानवीय नियंत्रण और विनियोजन से परे नहीं है, भयावह है— विमर्श के स्तर पर और कर्म के स्तर पर भी। इसका भयावह पक्ष यह है कि अगर कोई चीज़ मानवीय नियंत्रण से बाहर है तो उसे आदर्शतः उसके भीतर होना चाहिए।

मैं आपको एक दृष्टांत देता हूँ। चीनी लेखिका चुंग छांग की 'वाइल्ड स्वान' नाम की किताब है। उसकी बहुत चर्चा हुई है। यह तीन पीढ़ियों की कहानी है। उन्हें बाद में चीन से भागकर इंग्लैण्ड जाना पड़ा। उस किताब में दो महत्त्वपूर्ण चीज़ें दर्ज हैं। पहली बात यह है कि चीन की तथाकथित सांस्कृतिक क्रांति में लेखिका की चाची या मौसी (मैंने यह किताब अंग्रेज़ी में पढ़ी थी, उसमें 'आण्ट' शब्द था, इससे यह स्पष्ट नहीं था कि वे मौसी थी या चाची, लेकिन चीनी भाषा में इनके बीच के भेद को रेखांकित किया जाता है।) मांस नहीं खाती थीं। उनका बौद्ध धर्म में विश्वास था इसलिए उन्हें मांस से विरक्ति हो गयी थी। सांस्कृतिक क्रांति के दौरान उनको ज़बरदस्ती मांस खिलाया गया। वैसे ही कुछ और भी रहे होंगे, इसलिए आपका यह कहना सही है कि इस तरह की बातों की पहचान वहाँ कुछ लोगों को रही होगी। ऐसे लोग कम रहे होंगे, और जो रहे होंगे उनकी यह हिम्मत नहीं होती होगी कि वे अपनी बात कह सकें, वे अपनी सही पहचान पेश करने की हिम्मत नहीं जुटा पाते होंगे। ऐसी स्थितियों में इंसान अपनी सही पहचान छिपाने की कोशिश किया करते हैं। विशेषकर जब किसी समाज या राजनीतिक व्यवस्था में भय ही व्यवहार की पारिभाषिक धुरी बन जाए। भय आधारित व्यवस्था के लिए हर एक को अकेले रखना अनिवार्य है और विस्मृति इस अकेलेपन का गहनतम आयाम है। इस संदर्भ में मैं कहना चाहूँगा कि यह अनायास नहीं कि चीन का अपने अतीत से अटूट गहन दूरी बनाने का प्रयास वैश्विक परिवेश में भी चीन के नितांत अकेलेपन का दौर था। इस तथ्य में निहित विराट विडम्बना पर ग़ौर करें। विश्वमुखी सर्वहारा क्रांति की उपलब्धि का चरम क्षण विश्व के प्रति घोर विमुखता पर आधारित था। मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि चीन को समस्त अतीत में इतने अकेलेपन और इतने अकारण भयग्रस्त अकेलेपन का कभी अनुभव नहीं हुआ।

वाइल्ड स्वॉन की दूसरी तफ़सील ऊपर चर्चित आयाम की विपरीत दिशा में इशारा करती है। बार-बार सांस्कृतिक क्रांति के दौरान ऐसी स्थिति बनती है कि माओ के रेड गार्ड चुंग छांग के माता-पिता को उन्हीं के घर में धमकाते हैं, पूछताछ करते हैं, तो उनकी दादी जल्दी से कुछ बटोरकर उन दीवाने निर्मम युवक-युवतियों के लिए अच्छी रसोई परोसने का प्रयास करती हैं। देखने में नितांत हल्की यह तफ़सील जीवन में निहित अमिट सामान्य विराटता का बोध कराती है। जब जीवन के समस्त दृश्य आधार स्तम्भ ध्वस्त हो जाते हैं, हल्की बारीक जीवन-क्रियाएँ ही संगति की आकांक्षा और बोध को जीवित रखती हैं।

उदयन : आपने जो यह कहा कि कुछ ख़ास विचार-परम्पराएँ समूचे अस्तित्व को उसके किसी एक आयाम में, मसलन राजनीतिक आयाम में या धर्मशास्त्रीय आयाम में अँटाने की कोशिश करती हैं। क्या वे परम्पराएँ ग़ैर-पेगन परम्पराएँ नहीं रहीं ? मैं यह इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि सम्भवतः पेगन परम्पराओं में अस्तित्व को उसके तमाम आयामों में स्वीकृत किया जाता रहा है। पर जैसे ही किसी उपस्थिति को उसके किसी एक आयाम में संकुचित करने की कोशिश की जाती है, उस उपस्थिति की हत्या की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। आपके उदाहरण से ही यह देखा जा सकता है कि जैसे ही गौरैयों को महज़ राजनीतिक तथ्य में संकुचित करने की चेष्टा हुई, उनको मारने का आधार बनकर तैयार हो

गया। आपने विश्व की तमाम पेगन परम्पराओं का विशद अध्ययन किया है। मुझे याद है, एक बार मैंने निर्मल वर्मा के सामने पेगन शब्द का उच्चारण किया, उन्होंने तुरंत मुझसे आपके सोच-विचार की चर्चा की। क्या आप यह नहीं मानते कि पेगन परम्पराओं की यह एक विशेषता रही है कि उनमें अस्तित्व को या किसी भी उपस्थिति को उसके तमाम आयामों में स्वीकार किया जाता है। वहाँ किसी भी उपस्थिति को समझने के तमाम कोणों की समान वैधता हुआ करती है और इन बहु-वैधताओं को जीवित रखे रहना कोई भी पेगन संस्कृति अपना दायित्व मानती है।

सुरेश : निर्मल की उपस्थिति का अभाव न जाने कितनी बार इस बातचीत के दौरान महसूस किया है। निर्मल को सुनने और उनसे कुछ कहने का आनंद अद्भुत था। उनके साथ की गयी बात अनायास गहन बारीकी को छू लेती थी। स्टीफन हॉकिंग ने कहा था कि 'सिंगुलेरिटी' (एकवचनात्मकता) ही ब्लैक होल है। चरम एकवचनात्मकता (एब्सल्यूट सिंगुलेरिटी) ही ब्लैक होल है। यह जीवन के अंत का संकेत है। हॉकिंग का यह विचार, जिसका मैंने पुनर्कथन किया है, तत्वत: अस्तित्व की प्रकृति के विषय में पेगन वक्तव्य है। इस विचार की अभिव्यक्ति बहुत-सी प्राचीन परम्पराओं में हुई है। उदाहरण के लिए यूनान की पैथागोरीय परम्परा में यह कहा जाता है कि जीवन की शुरुआत अंकों से हुई है। तात्पर्य यह है कि जीवन की उत्पत्ति एक से अधिक कारकों से हुई है। अनेक के बिना जीवन और सृष्टि की कल्पना नहीं हो सकती।

हमारी भाषा में एक और एक से अधिक के बीच भेद करने की शाब्दिक-युक्ति ध्यान देने योग्य है। एक का विपरीत शब्द 'अधिक' नहीं, बल्कि 'अनेक' है। 'अनेक' का अर्थ बहुत नहीं है, उसका अर्थ है, 'एक नहीं।' हमारी भाषा की यह विशेषता भी है कि यहाँ किसी प्रत्यय को परिभाषित करने के लिए 'नेति' का उपयोग किया जाता है। इस प्रयोग की बड़ी व्याप्ति है और इसमें बड़ा परिष्कार भी है। यह अपने आप में विलक्षण बात है क्योंकि 'परिष्कृत नेति' एक अजीब बात लगती है।

युरोप के कल्पना जगत, अनुभव और विमर्श में दो-तीन परम्पराओं का सम्मिश्रण है। इसमें पहली यहूदी परम्परा है, दूसरी यूनानी और रोमन। इसमें एक 'सामी' परम्परा है और दूसरी 'पेगन'। 'पेगन' शब्द पेगन परम्परा में बना शब्द नहीं है। यह तो यहूदी परिवेश से उपजी ईसाई परम्परा का दिया शब्द है। ईसाई दृष्टि के अनुसार मानव जाति को दो भागों में बाँटा जा सकता है 'ईसा मसीह के वफ़ादार और बाक़ी सब।' पेगन परम्पराओं का यह सीमांकन बड़ा ही अर्थपूर्ण है। इस सीमांकन ने अनजाने ही बड़ी व्यापक एकता को चिह्नित करने का कार्य किया, जिससे नयी ईसाई परम्परा अपने को अलगाने को प्रतिबद्ध मानती थी। इस विराट पेगन निरंतरता की अनेक शाखाएँ हैं लेकिन उन सबकी विविधता के बीच कुछ मूलभूत दार्शनिक धरातल की सामान्यता है।

इससे यह बात साबित होती है कि नकार भी पुष्टि का ही एक रूप है। एकवचनात्मकता की आकांक्षा बहुत उग्रता से इतिहास में अनेक बार आयी है। मार्क्सवादी दर्शन में यह बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मार्क्सवाद द्वारा इस आकांक्षा का भी हमारे जीवन में गहन प्रवेश हुआ है लेकिन यह केवल मार्क्सवादी दर्शन के रास्ते ही आयी हो, ऐसा नहीं है। यह दृष्टि आधुनिक परिवेश में अनेकश: व्याप्त है। यह धारणा उसी तीव्रता से सावरकर में भी आती है। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि सावरकर जिस परम्परा को स्थापित करना चाहते थे, उसका दार्शनिक आधार बन नहीं सका। उसके कुछ छोटे-मोटे प्रयास अवश्य हुए पर उसका कोई गहन, विस्तृत दार्शनिक आधार बन नहीं सका। जबकि मार्क्सवादी दर्शन का गहरा आधार बना और आज भी हमारी शब्दावली, तर्क विधा में अनेक रूपों में व्याप्त है। हर चीज़ को, या यों कहें

समस्त मानव अस्तित्व को किसी एक आयाम में ढालकर उस पर निर्णय देने की सुविधा आधुनिक वृत्ति में बहुत गहरे तक पैठी हुई है।

उदयन : लेकिन इस प्रवृत्ति की अपनी एक परम्परा है और वह सामी धार्मिक दृष्टियों में भले ही आंशिक रूप से पर मिलती अवश्य है। यह प्रवृत्ति आधुनिकता में सम्भवत: वहीं से आयी हुई जान पड़ती है। आप इस बारे में क्या सोचते हैं ?

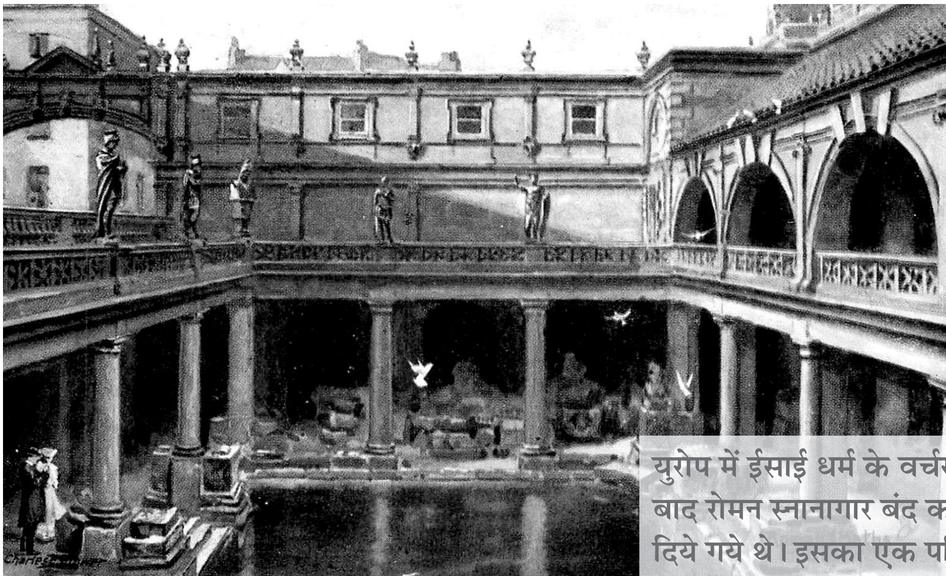
सुरेश : वहाँ जाने से पहले (और हमें वहाँ अवश्य ही जाना है) हम अपने चिड़ियों के उदाहरण पर दोबारा लौटते हैं। चीन में अपनी परम्परा से स्थायी गुणात्मक दूरी बनाने का प्रयास अति विराट और अति निर्मम था, लेकिन इस अटूट दूरी बनाने के प्रयास में एक ऐसी आधारभूत विराट उपस्थिति थी जो पूरी तरह से हटाई जा ही नहीं सकती थी, जिससे दूरी बनाना असम्भव था। वह उपस्थिति थी उनकी अपनी भाषा। उन्होंने जो भी दूरी बनाने के प्रयास किये, वे अपनी पुरानी भाषा में ही किये, जिसकी लेखन विधि भी पुरानी ही थी। उन्होंने भाषा का नवीनीकरण अवश्य किया पर भाषा के अंतस में जो नैरंतर्य हुआ करता है, उसे ख़त्म करना आसान नहीं होता। दीर्घ पैमाने पर इस प्रयास का चीन पर क्या असर होगा, कहना बहुत मुश्किल है। उस बारे में कोई भी निश्चित राय नहीं बनाई जा सकती। पर इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि चीनी भाषा में उसके अपने समग्र अतीत से गहरा नैरंतर्य अब भी क़ायम है, और साथ ही लेखन पद्धति की निरंतरता उनके जीवन में विशिष्ट आयाम जोड़ती है।

लेखन विधि और भाषा की निरंतरता के बीच चीन के संदर्भ में क्या संबंध और क्या फ़र्क़ है और भाषा की इस निरंतरता में जो नवीनीकरण के सशक्त प्रयास होते हैं, वे किस प्रकार के यथार्थ हैं ?

दुनिया में ऐसी कोई भी सांस्कृतिक या राजनीतिक निरंतरता नहीं है जो चीन के समकक्ष हो। आज हम जिसे युरोप की निरंतरता कहते हैं, वह कुछ पुरानी और सक्षम भले हो, पर उसमें गहन दरारें हैं, उसमें अनेक टूट-फूट हैं। हमारे इतिहासकारों की कल्पना में युरोप प्राय: फ्रांसीसी क्रांति से आरम्भ होता है। उसके पहले के युरोप के यथार्थ के बारे में हमारे यहाँ बहुत चिंता या चिंतन नहीं मिलते। हमारे देश में इतिहास लिखने और पढ़ने की परम्परा कम से कम सौ बरस पुरानी तो हो गयी है, बल्कि सौ बरस से कुछ ज़्यादा ही है, लेकिन अभी भी हमारे इतिहास विमर्श में भारतीय इतिहास से आगे का इतिहास प्राय: नदारद है। 'आंचलिक अध्ययन' के कुछ विभाग अवश्य कार्यरत हैं पर उनका कार्यक्षेत्र भी बीसवीं शती के पीछे नहीं जाता। सच तो यह है कि उनमें भी बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध पर ही अधिक कार्य हुआ है।

अगर युरोप को गम्भीरता से समझना-जानना है, तो यूनान और रोम के बारे में सोचने से बचना असम्भव है। युरोप की इकाई लगभग ढाई हज़ार साल पुरानी ठहरती है, और इसका यूनान और रोम से एक गहरा अंतराल है। और यह अंतराल ईसाई धर्म के वर्चस्व के साथ अस्तित्व में आया। ईसाई धर्म के वर्चस्व का यह सात सौ-आठ सौ बरस का इतिहास रोम और यूनान की परम्परा से एक स्थायी दूरी बनाने का इतिहास है। युरोप में भी एक गहरी विस्मृति का प्रयास किया गया था। यह प्रयास पूर्णत: सफल नहीं हुआ। इसके विफल होने का राज महत्त्वपूर्ण है और उसके परिणाम भी महत्त्वपूर्ण हैं। अगर यह प्रयास पूरी तरह सफल हो गया होता तो युरोप की आज की महिमा, उसकी शक्ति, उसके बाद आधुनिक दुनिया की सृष्टि सम्भव नहीं होती। अगर विस्मृति को स्थापित करने का वह प्रयास सफल हो गया होता तो आधुनिक युरोप जैसी कोई चीज़ नहीं बन पाती। इसके स्थान पर क्या हुआ होता इसका अंदाजा आप मध्यकाल के युरोप को देखकर लगा सकते हैं। उस स्थिति में रेनेसाँ-पूर्व मध्यकालीन युरोप की निरंतरता में ही आज का युरोप रहा होता। उसमें कोई बहुत बड़ा अंतर शायद न आया होता। उस स्थिति में 'क्रूसेड्स' की कहानी भी उस तरह ख़त्म नहीं हुई होती, जैसी वह हुई।

यह सच है कि विस्मृति लाने का वह प्रयास पूरी तरह सफल नहीं हुआ, पर फिर भी वह काफ़ी



रोमन स्नानागार

युरोप में ईसाई धर्म के वर्चस्व के बाद रोमन स्नानागार बंद कर दिये गये थे। इसका एक परिणाम यह हुआ कि युरोप में रोज़ नहाने की परम्परा समाप्त हो गयी। यह परम्परा दोबारा उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो सकी। यह दोबारा शुरू होना भी कुछ हद तक ही होता है। इसीलिए येरूसलेम की फ़तह के लिए शुरू किये गये क्रुसेड के दौरान जब युरोप से लोग येरूसलेम जाते, या सीरिया जाते, तो उन्हें वहाँ के हमाम अद्भुत जान पड़ते थे क्योंकि ये वे चीज़ें थीं जो उनके अनुभव और स्मृति से निकल चुकी थीं। पर वे रोमन सभ्यता के महत्त्वपूर्ण स्थल थे। ऐसी चीज़ें मिटती हैं लेकिन विशेष कारणवश ही ऐसा हुआ करता है। इनके नष्ट होने के पीछे कोई बड़ा धर्मशास्त्रीय या राजनीतिक या दार्शनिक तर्क हुआ करता है।

हद तक सफल हुआ। इसलिए युरोप और उसके अतीत के बीच आये अंतराल में निहित तत्त्व कुछ हद तक आज भी उपस्थित हैं, सक्रिय हैं। वहाँ परम्परा की निरंतरता में टूटन आयी है, दीर्घ-गहन टूटन आयी है। दरअसल युरोप उस परम्परा को दोबारा पाने के प्रयास में बना है। इस अर्थ में युरोप की ईकाई चीन से भिन्न है। चीन की ईकाई में इस तरह की दरारें नहीं हैं। राजनीतिक दृष्टि से भी चीन की निरंतरता कहीं अधिक गहरी और घनीभूत है। चीन की राजनीतिक और भाषिक निरंतरता कहीं अधिक गहरे स्तर की है। उसका एक छोटा-सा उदाहरण देता हूँ। चीन की सांस्कृतिक क्रांति के विषय में पढ़ते हुए चीन में एक ऐसे स्कूल का ज़िक्र आया जो उसी जगह पर आज है जहाँ वह किसी न किसी रूप में पिछले दो हज़ार वर्षों से था। इस निरंतरता के महत्त्व को आँकना जटिल है।

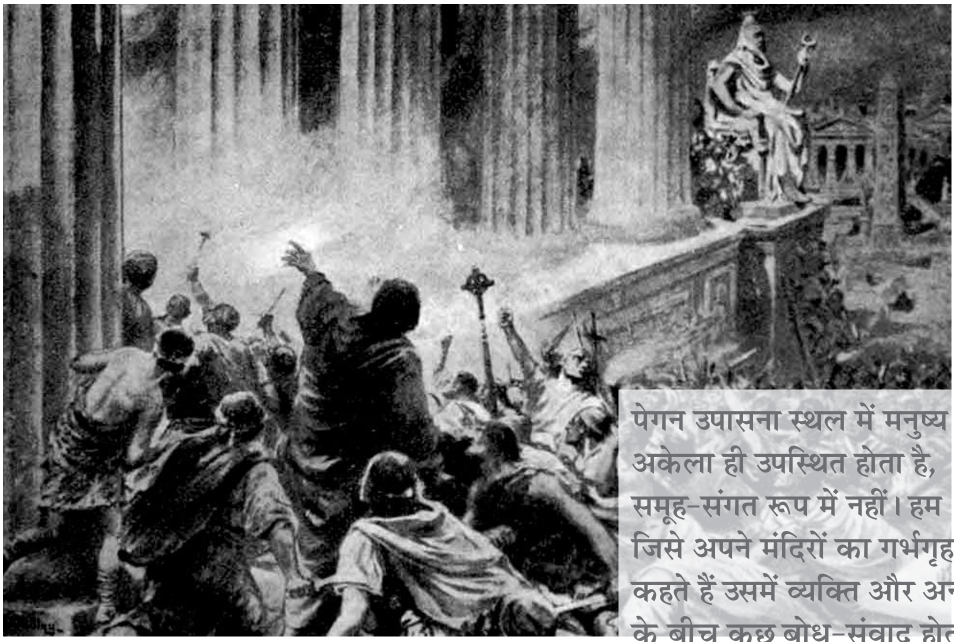
हमारे लिए बनारस में भी ऐसी कोई पाठशाला ढूँढ़ निकालना, जो भले ही आज जीर्ण-शीर्ण रूप में क्यों न हो, मुश्किल होगा। वह स्थान ढूँढ़ निकालना भी असम्भव जान पड़ता है कि जिस पर बैठकर शंकराचार्य पढ़ते या पढ़ाते थे। सभ्यताओं की पारिभाषिकता उनमें उपस्थित स्थान और चिंतन के अंतर्संबंधों में निहित हुआ करती है। सभ्यताओं में चिंतन, दर्शन और स्थान के बीच गहन सूक्ष्म संबंध बना रह सकता है। बनारस इस अंतर्संबंध का विशिष्ट प्रतीक है। कुछ और भी ऐसे स्थान हैं जो अब अवशेष मात्र हैं, जैसे तक्षशिला और नालंदा। अगर मध्यकालीन भारत को लें तो कुछ मदरसे भी इसी कोटि में रखे जा सकते हैं, कुछ मस्जिदें हैं। लेकिन इन सभी में इस संबंध की

निरंतरता की अवधि बहुत नहीं है। हमारे यहाँ कुछ विशिष्ट स्थानों की एक पहचान अवश्य है पर उसके भीतर के अवयवों का रेखांकन उतना स्पष्ट नहीं है, जितना उदाहरण के लिए चीन में मिलता है। अगर यह रेखांकन कहीं है भी तो वह संकेत मात्र भर है। कुरुक्षेत्र में सन्याहेत नाम के स्थान की स्मृति मिलती है, जहाँ कहा जाता है कि महाभारत की सेनाएँ प्रतिदिन युद्धोपरांत मिल बैठती थीं। लेकिन वह प्रतीक रूप में ही बचा है। जैसे वृंदावन की भी प्रतीक रूप में ही निरंतर उपस्थिति है। लेकिन यह सभ्यता की निरंतर दिनचर्या और दैनिक क्रिया के स्तर पर नहीं है और सभ्यता की पारिभाषिकता इसी दिनचर्या और दैनिक क्रिया से बना करती है। सांकेतिकता से जुड़े कर्मकाण्ड की भी निरंतरता होती है और उसका भी सभ्यता में महत्त्व हुआ करता है। यह कहा जा सकता है जो कर्मकाण्ड आज हो रहा है वही दो हज़ार बरस पहले भी हुआ करता था। लेकिन यह निरंतरता सांकेतिक स्तर पर ही प्रवाहमान है। इसमें ऐतिहासिक निरंतरता उभरकर नहीं आ पाती। सम्भवत: इसी कारण दिनचर्या और दैनिक क्रिया के स्तर पर इस निरंतरता की कोई स्पष्ट छाप नहीं बच पायी है।

चीन की स्थिति भिन्न है। वहाँ ढाई हज़ार साल पुरानी चीनी लिखाई को आज भी विश्वविद्यालय का पढ़ा छात्र पहचान सकता है। इसके लिए उसे प्राचीन भाषाओं का विद्वान होने की आवश्यकता नहीं है। यह न युरोप में सम्भव है और न भारत में। इसमें चीन की लेखन पद्धति का बड़ा भारी योगदान है। अगर आप अंग्रेज़ी भाषा को देखें तो उसमें जिसे हम 'स्पेलिंग' कहते हैं, वह बदलते रहे हैं। आज हम अंग्रेज़ी के शब्दों की जिस 'स्पेलिंग' को जानते हैं, वे उन्नीसवीं शताब्दी के हैं। उससे पहले वे बिल्कुल अलग थे। चीनी भाषा के लेखन में 'स्पेलिंग' जैसा कुछ है ही नहीं। उस लेखन में विचार 'इंगित' हुआ करता है, धारणा इंगित हुआ करती है। लेखन धारणा का वाहक है, ध्वनि का वाहक नहीं है। इस लेखन विधि में अनायास सभ्यता की एक गहरी निरंतरता निहित रूप से प्रवाहमान हो जाती है। यह चीन की एक ख़ास बात है कि वे अपनी भाषा से नहीं हटे। उसी भाषा के माध्यम से उन्होंने सब कुछ करने का प्रयास किया। विस्मृति का प्रयास भी उन्होंने उसी के माध्यम से किया। दरअसल भाषाविहीन विस्मृति अकल्पनीय है। और यदि भाषा है तो एक तरह की सहज निरंतरता तो है ही।

इस विमर्श के संदर्भ में हम यह न भूलें कि भाषा के साथ समग्र धरातल पर जीवंत संबंध का बहुत महत्त्व है। सभ्यता की निरंतरता आँकने के लिए आज बोली जा रही भाषा और दो हज़ार साल पहले की भाषा के बीच का फ़ासला बहुत अर्थपूर्ण हुआ करता है। युरोप में आज बोली जा रही भाषाओं का इतिहास पाँच-सात सौ बरस से ज़्यादा का नहीं है। उससे पहले के युरोप को पहचानने का माध्यम लेटिन और ग्रीक जैसी क्लासिकल भाषाएँ ही हो सकती हैं। चीन में भी जिसे 'क्लासिकल' चीनी भाषा कहा जाता है, उसमें आम बोल-चाल की भाषा दर्ज नहीं हुआ करती थी। सामान्य बोलचाल की भाषा में लेखन पिछले सौ बरसों में ही शुरू हुआ है। लेकिन चूँकि चीनी लेखन ध्वनि पर नहीं, विचार पर आधारित है, इसलिए क्लासिकल चीनी और बोल-चाल की चीनी के बीच की निरंतरता कहीं अधिक गहरे स्तर की है। युरोप में किन्हीं सेमिनरी आदि के विषय में यह भले ही कहा जा सकता हो पर किसी स्कूल के विषय में चीन की तरह यह कहना प्राय: असम्भव होगा कि उसी स्थान पर दो हज़ार साल पहले भी स्कूल चला करता था।

युरोप के कल्पना जगत, अनुभव और विमर्श में दो-तीन परम्पराओं का सम्मिश्रण है। इसमें पहली यहूदी परम्परा है, दूसरी यूनानी और रोमन। इसमें एक 'सामी' परम्परा है और दूसरी 'पेगन'। 'पेगन' शब्द पेगन परम्परा में बना शब्द नहीं है। यह तो यहूदी परिवेश से उपजी ईसाई परम्परा का दिया शब्द है। ईसाई दृष्टि के अनुसार मानव जाति को दो भागों में बाँटा जा सकता है 'ईसा मसीह के वफ़ादार' और बाक़ी सब। पेगन परम्पराओं का यह सीमांकन बड़ा ही अर्थपूर्ण है। इस सीमांकन ने अनजाने ही बड़ी व्यापक एकता को चिह्नित करने का कार्य किया, जिससे नयी ईसाई परम्परा अपने को अलगाने को प्रतिबद्ध मानती थी। इस विराट पेगन निरंतरता की अनेक शाखाएँ हैं लेकिन उन



ईसाइयों द्वारा पेगन सभ्यताओं के विनाश का एक चित्रांकन

पेगन उपासना स्थल में मनुष्य अकेला ही उपस्थित होता है, समूह-संगत रूप में नहीं। हम जिसे अपने मंदिरों का गर्भगृह कहते हैं उसमें व्यक्ति और अनंत के बीच कुछ बोध-संवाद होता है। मानव इतिहास में पहली बार चर्च स्थापत्य के माध्यम से एक ऐसा स्थल अस्तित्व में आया जहाँ एक और अनंत के बीच संवाद के स्थान पर अनेक और अनंत का संवाद होना शुरू हुआ। पेगन परम्पराओं का एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व सामी परम्पराओं से भिन्न है : स्वयं एवं अन्य के बीच संबंध संवाद का दार्शनिक धरातल। इस बिंदु पर कुछ स्पष्टीकरण ज़रूरी है। मनुष्य के स्वबोध में सदैव एक गहन आत्म-केंद्रीयता निहित रहती है। हर छोटे-बड़े समूह का यह अडिग विश्वास रहा है कि उनकी भाषा, जीवनशैली, वेशभूषा, पूजा अर्चना सर्वश्रेष्ठ है।

सबकी विविधता के बीच कुछ मूलभूत दार्शनिक धरातल की सामान्यता है। यह विराट एकता चरम प्रश्नों के रूपंकरण, समझ और अभिव्यक्ति की सामान्यता में परिलक्षित होती है। अनेक अंतर-भेद के रहते भी कुछ विशिष्ट आधारभूत प्रश्नों के संदर्भ में एक सूत्रात्मकता दिखाई देती है। इसलिए यह कहना शायद ठीक होगा कि इस विराट एकता के संदर्भ में पेगन शब्द ईसाई दृष्टि का एक सार्थक उपहार है। इसी कारण पेगन परम्पराओं में एक आत्म-सजगता आयी जो ज़ाहिर है इस नामांकन के पहले तक नहीं रही होगी। हम यह पहचानने की आत्म-सजगता होती क्या है ? वह कोई ऐसी चेतना नहीं जो सहज ही उपस्थित होती हो। वह ऐसी चेतना है जो स्वयं के विषय में किसी अन्य के संदर्भ और संवाद के बीच जाग्रत होती है।

हम एक बार फिर युरोप की निर्मिति पर लौटें। इसमें जो जूडायिक तत्त्व है उसके दो भाग हैं, जिनमें परम्परा का कटु द्वंद्व रहा है। ये दो भाग हैं— यहूदी और ईसाई दृष्टियाँ। इनमें रहे द्वंद्व के परिणाम बीसवीं शताब्दी तक चले आये। दूसरा तत्त्व है पेगन परम्परा। पेगन परम्परा के भी दो आयाम हैं; एक 'क्लासिकल आयाम' जिसका प्रतिनिधित्व प्राचीन यूनान-रोम की भाषा, स्थापत्य, दर्शन, संस्थाओं आदि में परिलक्षित होता है। रोमन साम्राज्य के कई संस्थान कैथोलिक चर्च में पुनर्रचित हुए। यह भी सच है कि सेकुलर कल्पना दृष्टि रोम पर केंद्रित रही। कैथोलिक चर्चा में दो विपरीत प्रवाह समानांतर चले हैं। चिंतन विधा, उपासना पद्धति और सांस्कृतिक बोध-कर्म में प्राचीन पेगन रोम से अटूट दूरी

स्थापित करना और साथ ही पेगन रोम की सांगठनिक रूपरेखा को चर्च के संगठन में पुनर्रचित करना। चर्च स्थापत्य के इतिहास में रोम का 'बेसिलिक' हॉल है। रोमन साम्राज्य में बेसिलिका प्रजा की सामूहिक उपस्थिति के लिए हुआ करता था। वहाँ प्रजा अपने राजा को सुनती थी। ईसाई परम्परा में वह धार्मिक स्थल के रूप में पहचाना जाने लगा। और ईसा मसीह के लिए 'बेसिलस' यानी राजा शब्द का उपयोग होने लगा। रोमन सभासदों की ईसा मसीह के प्रति कड़ी नाराज़गी का कारण उन्हें राजा सम्बोधित किया जाना था।

मैं थोड़ा भटक रहा हूँ। मुक्त संवाद के लिए ये शायद बुरा भी नहीं। दुनिया-भर की आराधना परम्पराओं में एक विशेष सामान्यता है। यह अद्वितीय सामान्यता गहन दार्शनिक दृष्टि पर आधारित है। पूजा स्थलों का स्थापत्य इस तरह हुआ करता है कि किसी दिव्य स्थल-परिवेश में व्यक्ति और अज्ञात के बीच संवाद हो सके। इसे हमारे यहाँ गर्भगृह कहा जाता है। गर्भगृह एक ऐसा स्थल है जहाँ से आप चरम अज्ञात अनंत से प्रतिकृत होते हैं। यह वह स्थल है जहाँ व्यक्ति और अज्ञात, आकाश, अनंत आमने-सामने होते हैं। चाहे यह आदिवासी पूजा स्थल हो, जो पेड़ के नीचे भी हो सकता है, या कोई अत्यंत सुसज्जित मंदिर, फिर वे मॅमफिस, प्राचीन मिस्र के महान मंदिर हों या रोमन देवी-देवताओं के देवालय, आप कहीं की प्राचीन परम्परा को देखें चाहे वह रोम-यूनान हो, या चीन, जापान या अमरीका, साइबेरिया, हर एक आराधना स्थल में व्यक्ति अलौकिक से संवादरत् प्रतिकृत आदि, एक व्यक्ति के रूप में हुआ करता है, समूह-संगत के रूप में नहीं। लेकिन उपासना स्थल को समूह वंदना, संगत-सभा के लिए बनाना विशेष रूप से ईसाई योगदान है। मैं येरूसलेम के मंदिर के मूल स्थापत्य को मैं नहीं जानता। इस संदर्भ में मेरा मूल प्रस्थान-प्रश्न है कि क्या भक्त संगत-सभा की शुरुआत येरूसलेम के सोलोमन मंदिर से हुई है? मेरी मान्यता यह है कि उस मंदिर में भी व्यक्ति और अनंत के बीच का ही संवाद हुआ करता था, भक्त-सभा का नहीं। ईसाई चर्च ऐसा पहला स्थापत्य है जिसमें भक्तगण मिलकर उपासना करते हैं। वहाँ अकेले व्यक्ति का स्थान नहीं है। इस परम्परा का चरम उत्कर्ष मस्जिद के स्थापत्य में होता है। क्योंकि वहाँ खुले आकाश के नीचे उपासना-स्थल को दीवारों से बाँधकर एक ऐसी जगह तैयार की जाती है जिसमें अनेक भक्तगण समूह-संगत रूप में एकत्र हो सकें। यह स्थल एक साथ खुला भी है और बंद भी। मस्जिद की इमारत की कल्पना में विस्तार प्राय: निहित हैं। इसीलिए मस्जिद की सीढ़ियों पर भी नमाज पढ़ी जा सकती है। यह आप चर्चा में नहीं कर सकते।

हम युरोप की निर्मिति पर फिर लौटें। उसका क्लासिकल आयाम यूनानी व रोमन पेगन परम्पराओं से आता है, और दूसरा स्रोत पेगन लोक परम्परा से आता है। क्लासिकल परम्परा में भी दो तत्त्व हैं। एक वह जो रोमन साम्राज्य की उपज है, दूसरा यूनान की। यूनान और रोम की संस्कृतियों में कुछ बुनियादी फ़र्क़ हैं। यूनानी संस्कृति की विराट एकता में संस्कृति के केंद्र बिखरे हुए थे, संस्कृति, भाषा, दर्शन आदि के केंद्र किसी एक जगह नहीं, अनेक जगहों पर बिखरे हुए थे। वहाँ कोई एकमात्र सर्वोच्च केंद्र नहीं था। यह अवश्य है कि बाद में वहाँ दो केंद्र प्रतीकात्मक रूप से उभरे : एथेंस और स्पॉर्टा। लेकिन मूलत: यूनान का संसार गणराज्यों का संसार है। वह कुछ-कुछ भारत जैसी स्थिति को इंगित करता है। बल्कि यह कहना अधिक सही होगा कि यूनान भारत से अपेक्षाकृत अधिक तुलनीय है। इसके गहन परिणाम हुआ करते हैं। उदाहरण के लिए जब मोनियर विलियम्स अपना संस्कृत-अंग्रेज़ी शब्दकोश तैयार कर रहे थे, संस्कृत भाषा के कुछ सूक्ष्म तत्वों के स्पष्टीकरण के लिए उन्हें सुदूर गाँवों की यात्रा करनी पड़ी थी। यह सच है कि इन सुदूर गाँवों में जिन व्यक्तियों से उन्होंने परामर्श किया, वे ब्राह्मण थे। पर यह तथ्य है कि जिसे शास्त्रीय परम्परा कहा जाता है, उसके उच्चतम बिंदुओं, गहन तत्वों को समझने उन्हें सुदूर एकांतिक गाँवों की यात्राएँ करनी पड़ी थी। यह स्थिति क्लासिकल परम्परा की सामान्य अवधारणा से मेल नहीं खाती। हमारी अपनी शब्दावली के अनुसार हम कह सकते हैं कि मार्ग प्रधान परम्परा के प्रशस्ति के केंद्र बेहद विस्तृत रहे हैं। यह यूनान और भारत दोनों के लिए सही है।

मेरी मान्यता है कि रोम ने इस स्थिति को बदल दिया। यूनान के सँजोये विराट घने बिखराव में रोम ने एक गुणात्मक अंतर फूँका, रोमन संस्कृति शक्ति, नियम-क़ायदे आदि को केंद्र बनाकर उभारी। यूनान में मनुष्यकृत नियम-क़ायदे उतने महत्त्व के नहीं थे। उन नियम-क़ायदों का महत्त्व था जो दर्शन में थे, जो शिक्षण में थे। दैनिक क्रिया और दिनचर्या के नियोजन नियंत्रण का केंद्रीय प्रयास उनमें नहीं रहा। नियम-क़ायदों को किसी सर्वोच्च केंद्रीय संस्था के सहारे लागू नहीं किया जाता था। उन्हें उस समाज के सदस्य स्वयं अपने पर लागू किया करते थे। रोम ने इस प्रकार की व्यवस्था के मूल धरातल को पलट दिया। वहाँ नियम-क़ायदों का सर्वोच्च स्थान बन गया। रोम में भी दो पेगन लोक-परम्पराएँ थीं। एक वह जिसका प्रतिनिधित्व सीधा-सीधा रोम साम्राज्य किया करता था और दूसरी वह जो रोम के चारों तरफ़ अवस्थित थी और जो रोमन साम्राज्य के ध्वस्त होने के बाद भी जीवित रही। रोमन साम्राज्य के भीतर ईसाई सभ्यता की ओर मुड़ने की महान शुरुआत नगरों में ही हुई थी। गाँवों में वह काफ़ी समय बाद पहुँची। रोमन साम्राज्य की विस्तृत परिधि के अंचलों में तो ईसाई धर्म का समावेश अनेक सदियों बाद ही सम्भव हो पाया। उदाहरण के लिए आज जिसे हम पूर्वी युरोप कहते हैं, वहाँ यह ईसाई सभ्यता क़रीब एक हज़ार वर्ष पूर्व ही पहुँची थी, बाल्टिक देशों में, जैसे फ़िनलैण्ड में, तो यह छह-सात सौ वर्ष पहले ही पहुँची। फ़िनलैण्ड में पेगन लोक-परम्पराएँ क़रीब उन्नीसवीं शताब्दी तक बनी रहीं। फ़िनलैण्ड का लोक-महाकाव्य *काल वेला* उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक केवल वाचक रूप में ही सुरक्षित रहा। इस लोक-परम्परा का भी युरोप की निर्मिति में योगदान रहा है।

मिस्र पर पाँच-सात सौ बरसों तक रोम साम्राज्य का राज रहा और उस दौरान मिस्र के बहुत से देवी-देवता रोम में पूज्य माने जाने लगे। मिस्र के पुजारी रोम जाया करते थे और अपनी विशिष्ट पूजा पद्धति के अनुसार उपासना करते-कराते थे। इस तरह का विराट लेन-देन और उसका सार्वजनिक प्रकटन इन समाजों में सहज सम्भव होता रहा। यह मिस्र या रोम की विशेषता नहीं थी बल्कि ऐसा पूरे पेगन विश्व में निरंतर होता रहा है। जहाँ-जहाँ उस परम्परा में आज भी ऊर्जा है, वहाँ यह आज भी हो रहा है। आधुनिक युरोप में इस सम्भावना की जगह इसी पेगन संसार की देन है।

उदयन : हम एक बार फिर उस विराट पेगन एकता पर लौटें। आप बता रहे थे कि इसमें ऐसे कौन से तत्त्व हैं जो इन सभी परम्पराओं में मिलते हैं।

सुरेश : हमने उपासना के स्थलों की बात की। पेगन उपासना स्थल में मनुष्य अकेला ही उपस्थित होता है, समूह-संगत रूप में नहीं। हम जिसे अपने मंदिरों का गर्भगृह कहते हैं उसमें व्यक्ति और अनंत के बीच कुछ बोध-संवाद होता है। मानव इतिहास में पहली बार चर्च स्थापत्य के माध्यम से एक ऐसा स्थल अस्तित्व में आया जहाँ एक और अनंत के बीच संवाद के स्थान पर अनेक और अनंत का संवाद होना शुरू हुआ। पेगन परम्पराओं का एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व सामी परम्पराओं से भिन्न है : स्वयं एवं अन्य के बीच संबंध संवाद का दार्शनिक धरातल। इस बिंदु पर कुछ स्पष्टीकरण ज़रूरी है। मनुष्य के स्वबोध में सदैव एक गहन आत्म-केंद्रीयता निहित रहती है। हर छोटे-बड़े समूह का यह अडिग विश्वास रहा है कि उनकी भाषा, जीवन-शैली, वेशभूषा, पूजा अर्चना सर्वश्रेष्ठ है।

लेवी स्ट्रास का कथन है जो इस सार्विक विश्वास को सहज सूक्ष्मता से इंगित करता है, स्मरणीय है। उनकी यह स्मृति सन् तीस के दशक की है। वे ब्राज़ील के अमेज़न नदी के इर्द-गिर्द घने बीहड़ में निम्बकबाड़ा जनजाति का अध्ययन कर रहे थे। अचानक कुछ सप्ताह की यात्रा के बाद उन्हें फ्रांस

वापस लौटने के बुलावे का तार मिला। अगली सुबह जब उन्होंने गाँव वालों को यह ख़बर दी कि वे कुछ समय के लिए फ्रांस लौट रहे हैं, उन्होंने सहज आत्मीयता से अपनी सहानुभूति प्रकट की। उन्होंने अतिथि की मजबूरी को समझ उसकी सुरक्षित सफल यात्रा की कामना के साथ यह दु:ख भी प्रकट किया कि वह निम्बकबाड़ा संस्कृति-समाज के दिव्य सुख-आनंद से कुछ समय के लिए वंचित हो जाएगा। पेगन विमर्श-बोध जगत में अन्य कुछ जाने-अनजाने अजनबी समूहों के प्रति वैमनस्य, हिकारत और अधिकांशत: उदासीनता पर्याप्त थी। आपस में बैर भी था और संग्राम भी हुआ करता था। लेकिन उस ध्वंस, कलह, संग्राम का कहीं भी कभी भी दार्शनिक या धार्मिक आधार नहीं रहा।

पेगन कल्पना जगत में 'अन्य' 'स्व' का विपरीत या नकार नहीं है। पारिभाषिक मान्यता यह रही है कि अजनबी-अनजान, पूर्णत: अज्ञात में भी कुछ सामान्य, अपने जैसा ही अज्ञात तत्त्व उपस्थित है। यह तत्त्व सामान्य ही नहीं बल्कि वही है जो सभी में है लेकिन उसका प्रकटन भिन्न तरह से हो रहा है। यह धारणा सभी पेगन परम्पराओं में व्याप्त है और इन सभी परम्पराओं में इसका कोई अपवाद नहीं है। जो भेद हैं और जो भेद नियोजित होते हैं, दिनचर्या और दैनिक क्रियाओं में, इतिहास की पृष्ठभूमि में, उनके सांकेतिक निरूपण का अनंत के प्रश्न से पारिभाषिक संबंध हुआ करता है। प्रश्न यह उठता है कि चरम सत्ता या अज्ञात तत्त्व किस तरह निरूपित होता हैं और कैसे बोध या समझ के दायरे में आता है। समाजों के अंतर उनके भौतिक उपलब्धियों के आधार पर निश्चय ही हुआ करते थे। यह भी सम्भव था कि ये समाज अपनी किन्हीं भौतिक उपलब्धि पर गौरवान्वित भी हुआ करते हों। लेकिन जब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आप कौन हैं? या आपके अस्तित्व-आस्था का चरम स्थल क्या है? क्या उस चरम स्थल में कोई भेद सम्भव है? तब समाज, व्यक्ति, समस्त मानव जीवन की दिनचर्या के हर तथ्य का अस्तित्व के चरम तत्त्व से संबंध निर्णायक हो जाता है।

भिन्न पेगन समाजों, सभ्यताओं के बीच गहन अंतर, तीखे कटु ध्वंस संग्राम भी थे लेकिन वह सब सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनीतिक रूपाकारों, हितों की उपज थे। उनको दार्शनिक या धार्मिक आधार दे पाना असम्भव था। इसलिए जिस तरह के अनुष्ठान, कर्मकाण्ड और अन्य प्रतीकात्मक क्रियाएँ इन समाजों में हुआ करती थीं, वे आपस में भिन्न थीं। इस भिन्नता की पेगन समाज में व्यापक स्वीकृति थी।

आधुनिक सभ्यता की यह विशेषता है कि यहाँ हम अपने को श्रेष्ठ जाँचने का आधार उन वस्तुओं में देखते हैं जिनका हम उपयोग कर रहे हैं, उस भाव प्रेरणा में नहीं जिनका हम स्वप्न देखते हैं। स्वप्न के आधार पर अपने को विलगाने की प्रवृत्ति को आधुनिक सेकुलर चिंतन में छद्म चेतना का नाम दिया जाता है। आधुनिक विमर्श मर्यादा के अनुसार चिंतन-कल्पना की अर्थवत्ता उनकी वस्तु उपभोग के परिवर्तन की सम्भावना पर निर्भर है। आधुनिक जगत का दावा है कि उसका स्वबोध और आकांक्षा वास्तविकता की ज़मीन पर बने हैं। पेगन जगत का बुनियादी तत्व, बद्धमूल विचार यह है कि उपस्थित भेदोपभेद, लौकिक जीवन-जगत की विडम्बना और गहन कशिश इसी में है कि जो अभेदनीय है उसी के आधार पर ऐतिहासिक भेद, सामाजिक भेद या व्यावहारिक भेद खड़े होते हैं। दूसरे शब्दों में अपने और पराये के बीच के भेदों के जो प्रतीक हैं, उनकी निर्मिति अभेद की उपज है। पेगन परम्परा में इन भेदों को जीने का एक सामान्य दार्शनिक आधार रहा है। इसलिए इन रूपाकारों के बीच सैद्धांतिक और व्यावहारिक अंतर्संबंध स्थापित होने की सम्भावना हमेशा जीवंत बनी रही। अगर ये अंतर्संबंध व्यावहारिक धरातल पर सम्भव भी न हो सके हों तब भी उसकी सैद्धांतिक सम्भावना हमेशा उपस्थित रही। जैसे प्राचीन मिस्र की देवी ईसिस को यूनान की देवी आर्तेमिस के समतुल्य देखा गया। बल्कि उन्हें आर्तेमिस का ही एक रूप माना गया। सारी पेगन परम्पराओं में एक सत्य की बहुरूपता का गहरा भाव है। पेगन समाजों में इस दार्शनिक अभिमत की गहन पारिभाषिक स्वीकृति रही है। वे यह मानते रहे हैं कि एक ही तत्त्व को अलग-अलग रूपों में जीवन के अलग-अलग आयामों में, स्वरूपों में गढ़ा जा रहा है। भिन्न दिखने वाली चीज़ें तत्वत: भिन्न नहीं हैं। यह हो सकता है कि किसी पेगन समाज को यह

लगा हो कि उन्होंने जो रूप गढ़ा है, वह सत्य के अधिक निकट है। लेकिन तब भी वह ये नहीं मानते थे कि जो दूसरे रूपाकार हैं, वे सत्य के विपरीत हैं। वे यह मानते रहे कि हमारा गढ़े रूप की महिमा अधिक है लेकिन यह दावा किसी का नहीं रहा कि अन्य रूप सत्य के विपरीत हैं, वे निषिद्ध हैं।

उदयन : वे अन्यों से अपना नैरंतर्य मानते रहे ...

सुरेश : हाँ, वह यह मानते रहे कि अन्यों से हमारा नैरंतर्य है। वहाँ सत्य और झूठ जैसी दार्शनिक कोटियों के स्थान पर सत्य और अ-सत्य जैसी कोटियाँ थीं, और इनमें मूलभूत फ़र्क़ है। झूठ का विचार ईश्वर और शैतान के द्वंद्व से उत्पन्न होता है। ग़ैर-पेगन परम्पराओं में यह माना जाता है कि ईश्वर और शैतान की समानांतर सत्ताएँ हैं। इसलिए झूठ की सत्ता सत्य की सत्ता को निरंतर चुनौती देती रहती है और इस द्वंद्व में हर एक को यह तय करना होता है कि वह किस ओर है। हमारी भाषाओं में झूठ के लिए कोई पारिभाषिक शब्द नहीं है। हमारे यहाँ या तो सत्य है या असत्य। एक है या अनेक। पेगन चेतना में यह विचार है ही नहीं कि कुछ भी किसी भी अन्य दूसरे से पूरी तरह भिन्न या पूरी तरह अलग है। इसलिए इस परम्परा में यह भाव निहित है कि सभी कुछ एक ही सत्य के विभिन्न रूप हैं। चूँकि ये एक ही सत्य के रूप हैं इसलिए इनमें आपस में लेन-देन हमेशा ही सम्भव है। यह कभी होता है, कभी अवरुद्ध या विकृत हो जाता है, कभी सुंदर ढंग से होता है, कभी नहीं भी हो पाता। ऐसी कोई दो इकाई नहीं है जिनके बीच यह विनिमय न हो सकता हो। इसमें यह महत्त्व का नहीं है कि सत्ता का पलड़ा किस ओर है। जो कम शक्ति सम्पन्न है, उसकी ओर से भी यह विनिमय सम्भव है। जिन इकाइयों का दुनियावी प्रश्नों में घोर द्वंद्व है, उनके बीच भी लेन-देन रहा है। इस विचार के परिणाम बहुत दूर और बहुत गहरे तक जाते हैं और उन परिणामों के आयाम संश्लिष्ट हैं।

उदाहरण के लिए पुराने फ़ारस और यूनान के बीच प्रभुत्व स्थापित करने के लिए बहुत लम्बा संघर्ष चला, लेकिन फ़ारस के शहंशाह यूनानी देवी-देवताओं के प्रशंसक और अनुयायी भी थे। वे अपोलो की प्रशस्ति करने वालों में भी थे और साथ ही वे यूनान से संघर्षरत भी थे। यह कोई अजूबी बात नहीं थी, ऐसा सारे पेगन विश्व में हुआ करता था। भारत में इसे काफ़ी विस्तार से देखा जा सकता है।

आदिवासी या जनजाति और जिसे तथाकथित रूप से ब्राह्मणीय परम्परा कहा जाता है, उनके बीच भी ऐसा संवाद निरंतर हुआ और ऐसा नहीं कि यह केवल एक दिशा में हुआ हो। हमारे इतिहास लेखन में तथाकथित हिंदू या बौद्ध आदि के बीच की जो सीमा रेखाएँ मानी जाने लगी हैं, वे सामी परम्परा की दृष्टि से खींची हुई रेखाएँ हैं। यहाँ की अपनी सीमा रेखाओं में कहीं अधिक तरलता रही है। वही उनकी विशेषता है। चीन, जापान और दक्षिण पूर्वी एशिया के बौद्ध धर्म में सामी सीमांकन आज भी देखने को नहीं मिलता। वैसी विभाजक रेखाएँ वहाँ आज भी नहीं है। तमाम तथाकथित ब्राह्मणीय देवी-देवता वहाँ हैं जिनकी उपासना इन बौद्ध देशों में होती रही है। ऐसे कई देवी-देवता वहाँ आज भी जीवंत रूप में हैं जिनकी उपासना यहाँ बंद हो चुकी हैं। उदाहरण के लिए अगर इंद्र का मंदिर कहीं है तो वह थाईलैण्ड में है, भारत में नहीं। इसके पीछे के दार्शनिक आधार को आलोकित और रेखांकित करने की आवश्यकता है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि यह भारत की कोई अद्भुत चीज़ है। भारत की अद्भुत चीज़ यह है कि यह परम्परा यहाँ आधुनिक संदर्भ में भी बची हुई है और तमाम तरह की गहन चुनौतियों के साये में बची हुई है। लेकिन यह दृष्टि समूचे मानव समाज में रही है चाहे वह साइबेरिया हो या प्राचीन मिस्र। मेरा आग्रह है कि इस सम्भावना की महत्ता समझने के लिए उसके दार्शनिक आधार को जानना अत्यंत आवश्यक है। आज यह सामान्य मान्यता बन गयी है कि पुरानी पेगन परम्पराएँ संकीर्ण थीं।

आज यह मान्यता बन गयी है कि प्राचीन पेगन परम्पराएँ मूलत: अंधी आस्थाओं में लिप्त थीं। उन्हें इस मायने में संकीर्ण कहा जाता है कि उनके बोध का वास्तविक धरातल संकीर्ण और संकुचित था। उन परम्पराओं में कोई यह कहता था कि हम तो वृष्टि के देवता के उपासक हैं, कोई कहता था

कि वे किसी अन्य देवता के उपासक हैं। इस तरह वे अस्तित्व के किन्हीं विशेष तत्त्वों को ही सम्पूर्णता माने हुए बैठे थे। इसे उनकी छद्मचेतना कहा जाता है। इसीलिए यह भी माना जा सकता है कि उनकी आकांक्षा भी अत्यंत सीमित थी। यह भी माना जाता है कि पेगन परम्पराओं में पुरानी चीज़ों को सँजोये रखने की सामर्थ्य थी। परंतु उनमें कुछ नया कर पाने की न तो सामर्थ्य थी, न ही ऐसा कर पाने की आकांक्षा। इस तरह जड़ स्थिर निरंतरता को उनका स्वाभाविक गुण माना गया है। सदियों से चले आ रही चीज़ों को मात्र दोहराते रहना उनका अतीत भी है, और उनका भविष्य भी। आधुनिक दृष्टि के अनुसार उनमें यह देखने की कोशिश भी नहीं थी कि उनके इस दोहराव में कोई सत्य है भी या नहीं। इसीलिए इन परम्पराओं में अनंत के जो निरूपण थे, वे इतने निम्न और विद्रूप थे। वे ऐसी कथाओं से जुड़े हुए थे जो उनकी दोषपूर्ण कल्पना के रहस्य को उद्घाटित करती थी। इन चीज़ों में कौटुम्बिक यौन, झूठ, फ़रेब आदि को गिनाया जाता है। यह भी कहा जाता है कि उन परम्पराओं की अपने दायरे से बाहर न कोई रुचि थी और न दायित्व बोध। ऐसी दुनिया में किसी नयी खोज या सृष्टि के होने की सम्भावना मानी ही नहीं जा सकती। लेकिन यह सच नहीं है। ये मान्यताएँ निराधार हैं।

पेगन समाजों में नयी-नयी उपासना पद्धतियाँ, दर्शन, विभिन्न प्रकार के कौशल-कलाएँ उत्पन्न होते रहे हैं। ऐसी उपासना पद्धतियों को भी लोग अपनाते रहे जिनसे वे पूरी तरह अनभिज्ञ थे। उन समाजों में लेन-देन दोनों दिशाओं से होता रहा है। युरोप में उसकी शुरुआत इसीलिए रेनेसाँ के बाद से होती है। आधुनिक युरोप में इस भाव और मर्यादा को ग्रहण करने में लम्बा समय लगा। उसे अपने आप से अति कठिन और मार्मिक संघर्ष करना पड़ा है। मैं एक दृष्टांत देता हूँ। बात छोटी-सी है पर इससे एक गहन दार्शनिक तत्त्व स्पष्ट होता है। जब राजा राममोहन राय का इंग्लैण्ड में देहांत हुआ, एक बड़ी मुश्किल क़ानूनी स्थिति उत्पन्न हुई कि उनके शरीर का क्या किया जाए। उसे दफ़नाया नहीं जा सकता था क्योंकि वे ईसाई नहीं थे, उनका बप्तिस्मा नहीं हुआ था। उनके शरीर को जलाया भी नहीं जा सकता था क्योंकि यह क़ानून के ख़िलाफ़ था, उसके लिए क़ानून में कोई प्रावधान नहीं था। इसका समाधान यह निकाला गया कि उनके शरीर को एक निजी ज़मीन में दफ़नाया जाए। इस प्रकार की व्यवस्था समस्त युरोप में बीसवीं शती के आरम्भ तक क़ायम रही।

दूसरे विश्व-युद्ध तक सारे युरोप के अगर पूजा स्थलों का जायज़ा लिया जाए तो उनमें अधिसंख्य चर्च और थोड़े से सिनेगॉग ही मिलेंगे। यह अलग बात है कि सिनेगॉगों का अपना इतिहास पर्याप्त रक्त रंजित रहा है। अब विलीन हो चुकी पर विराट पेगन परम्परा के प्रतीक अब युरोप में संग्रहालयों से बाहर मिलना कठिन हैं। या तो उनके खँडहर हैं या तो उनके अवशेष संग्रहालयों में हैं। समस्त युरोप में कहीं भी प्रकाशमय रूप में ऐसे स्थल आपको नहीं मिलेंगे। स्वयं संग्रहालयों की कहानी भी बहुत पुरानी नहीं है। ये सिलसिला तो अठारहवीं शती में शुरू होता है। पैरिस में लूव्र का संग्रहालय फ्रांसीसी क्रांति के बाद आरम्भ हुआ था। ये सब उन्नीसवीं शती की देन हैं। पेगन परम्परा की वापसी की जो सम्भावना इतनी विराट उथल-पुथल के बाद युरोप में बन सकी, यह गहन दिव्य घटना है। इसका सम्मान किया जाना चाहिए। पेगन अनुभूति-मर्यादा की युरोप में वापसी, पुनर्प्रतिष्ठा क़रीब सत्रह सौ बरस बाद हुई। इतनी तीव्र विराट विस्मृति के अंतराल बाद ऐसा होना निश्चय ही बड़ी बात है। हालाँकि आज भी रोम में, जहाँ तक मुझे पता है, चर्च के अलावा कोई और उपासनागृह नहीं बन सकता।

उदयन : पेगन परम्पराओं का एक और तथ्य मेरे विचार से यह भी है कि उनकी कलाओं में बढ़त की या उपज की बहुत प्रतिष्ठा है। इन परम्पराओं में कलाओं में बढ़त की सम्भावनाओं को सहज स्वीकारा जाता रहा है। एक तरह से इन कला परम्पराओं में बढ़त की सीमाएँ निर्धारित नहीं की गयी हैं। इस तरह कला-कर्म और विचार में जो मूल आधार हैं, उनके विस्तृत होने की अनंत सम्भावना को स्वीकारा गया है। सामी परम्पराओं में इसका अभाव रहा और इसलिए उनके कलारूप भी इस दृष्टि से

भिन्न बने। उनके कलारूपों में बंधन की चेतना बहुत गहरी है। यह ज़रूर है कि इन परम्पराओं में भी कुछ ऐसे कलारूप बने, जैसे कव्वाली, जिनमें एक तरह की पेगन चेतना का प्रवेश हुआ। बढ़त का यह तत्त्व पेगन समाजों की जीवन-पद्धतियों में, भाषाओं के जन्म में भी हमें मिलता है। यह शायद इसलिए हो सका हो क्योंकि इन परम्पराओं में यह स्वीकृति थी कि जो कुछ भी अस्तित्ववान है, वह आधारभूत सत्य की निरंतरता में है या वह अपने आप में सत्य का ही रूप है। चूँकि झूठ का अस्तित्व ही नहीं है इसलिए जो भी नये रूपाकार जन्म ले रहे हैं, वे सत्य के उद्‌घाटन के सिवा और कुछ नहीं हो सकते। यह सच है कि इन रूपाकारों में कोई सत्य के निकट होगा और कोई नहीं होगा।

सुरेश : यह सच है कि मध्ययुगीन युरोप की ललित कलाओं में प्राचीन यूनान-रोम की झलक भी आप लाख खोजें तो नहीं मिलेगी। पूर्णत: नवीन वास्तविकता के सृजन के प्रयास में यह निहित है कि अतीत से ऐसी दूरी बने जो कभी पार न हो सके। तात्पर्य यह है कि आर-पार की कल्पना भी असम्भव हो जाए। आकांक्षा के स्तर पर यह युरोप के मध्ययुगीन क्रिश्चियनडम के लिए भी सही है, माओ के चीन के लिए भी, और लेनिन के सोवियत रूस के लिए भी। उसके पूर्ण नवीन सृजन के लिए विस्मृति अनिवार्य है। उसके बिना यह सम्भव नहीं है। यह मनुष्य के मूल स्वभाव या प्रकृति के बिल्कुल विपरीत है। इस बात को बहुत क़ायदे और विनम्रता से समझने की ज़रूरत है। मैं विनम्रता इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि अपनी परम्परा से अटूट दूरी बनाने की सामी ईसाई चेष्टा की एक अद्भुत देन भी है। मैं उस देन पर आना चाहता हूँ। वह देन है सेवा का विचार। बल्कि इस दूरी के नतीजतन सार्वभौमिक मानुषी सेवा, सार्विक मानव अधिकार का विचार ईसाई चेतना से ही केंद्र में आया। इसीलिए उसका इतना ज़बरदस्त और सुदीर्घ असर हुआ। सेवा का भाव मनुष्य में हमेशा से रहा है और उसके संस्थागत रूप भी दूसरी परम्पराओं में रहे हैं। सम्राट अशोक ने तो पक्षियों के लिए भी अस्पताल बनवाए थे। उनके लिए औषधियों के संचय करने को प्रोत्साहित किया था। इस तरह सभी प्राणियों के प्रति दायित्व का बोध दूसरी परम्पराओं में भी मिलता है पर यह दायित्व बोध केवल मनुष्य प्रजाति के लिए नहीं था। पेगन परम्पराओं में उत्तरदायित्व सभी के प्रति माना जाता था जो सबसे अधिक जीवंत रूप में आदिवासी जीवन में दिखाई देता है।

मुझे याद आ रहा है कि हमारे कई आदिवासी समुदायों में महिलाएँ अण्डा नहीं खातीं। उसके पीछे भाव यह है कि अण्डे में जीव के जीवन की सम्भावना सुषुप्त है, उसे कम से कम एक बार पनपने का मौक़ा दिया जाना चाहिए। ऐसा न हो कि जीवन को अवसर तक न मिले प्रकट होने का और वह समाप्त हो जाए। जीवन को जीने से पहले ही समाप्त न करने का यह भाव सुंदर है। इसी तरह मादा पशुओं के शिकार का भी निषेध है। यहाँ शिकार से शिकायत नहीं है केवल मादा जीवन के शिकार पर बंदिश है।

उदयन : वर्षाकाल में इसी तर्क से मछलियों का शिकार भी नहीं किया जाता क्योंकि इन दिनों वे अण्डे दिया करती हैं।

सुरेश : इस सबसे यही प्रकट होता है कि पेगन परम्पराओं में समस्त जीवन के प्रति एक गहरा उत्तरदायित्व का भाव रहा है। मूलभाव यह है कि जीवन को चलते रहना चाहिए। इसका मुझे एक बहुत सुंदर उदाहरण जिम कार्बेट की कहानी में मिलता है। वे एक नरभक्षी शेरनी का पीछा कर रहे थे। उनके एक हाथ में बंदूक़ थी। पीछा करते हुए वह एक ऐसी जगह पर आये जहाँ किसी चिड़िया के चार अण्डे रखे हुए थे। उन्होंने अपने ख़ाली हाथ से उन्हें उठा लिया। उन्हें अपनी समझ और पौरुष पर विश्वास था। उनका अनुमान था कि शेरनी दूर होगी। एक पत्थर पर फिसलकर जब वे नीचे छोटी-सी छिपी घाटी में पहुँचे, उन्होंने अचानक अपने को शेरनी के सामने पाया। उन्होंने बहुत धीरे से बंदूक़ सीधी की और गोली चलायी। शेरनी धराशायी हो गयी। जिम कार्बेट का मानना था कि अगर उस दिन वह

शेरनी नरभक्षी न होती तो वे न बचते और अगर उनके हाथ में अण्डे न होते तो भी वे न बचते। उनका तर्क यह था कि चूँकि वह शेरनी नरभक्षी थी इसलिए वह यह मानकर चल रही थी कि वह उनका शिकार तो कर ही लेगी। अगर उनके हाथ में अण्डे न होते तो वे उतनी सावधानी से धैर्य रखकर निशाना नहीं लगा पाते। शेरनी के मरने के बाद उन्होंने अण्डे वापिस उस अनजान परिंदे के घोंसले में रख दिये जहाँ से उठाए थे। टैगोर का भी यही मानना था कि जीवन के प्रति दया भाव संस्कारवश उतना नहीं, जितना कि प्राणी की सहज प्रवृत्ति का अंश है।

मुझे जिम कार्बेट का एक और क़िस्सा याद आ रहा है जहाँ शिकारियों की टोली पूरे दिन शिकार कर लौट रही है और उनकी नज़र अचानक ऊपर आसमान में दो परिंदों के बीच चल रहे संघर्ष पर जा टिकती है। बाज छोटी चिड़िया को पकड़ने की कोशिश कर रहा है। चिड़िया बचकर निकल जा रही है। जैसे ही वह बचकर निकलती है सभी लोग उत्साह और हर्ष से भर जाते हैं। मैंने बरसों पहले नेशनल ज्योग्राफ़िक चैनल पर यह देखा था कि एक घड़ियाल हिरण के बच्चे को पकड़ लेता है। नदी के किनारे एक हिप्पोपोटेमस उसके साथ-साथ चलता है। हिरण का बच्चा संघर्ष करके छूट जाता है और तब हिप्पोपोटेमस अपने मुँह से उस बच्चे को पुनरुज्जीवित करने की कोशिश करता है। टैगोर के कथन में गहरा सत्य मालूम देता है। हमारी परम्परा में भी यह बात स्वीकारी गयी है कि जीवन जीवन पर आधारित है और जीवन जीवन का भक्षी भी है। ये दोनों ही चीज़ें साथ-साथ चलती हैं। इस पेच का कोई समाधान नहीं है। मुझे लगता है यह विडम्बना ही कला में उपज का धरातल है।

उदयन : इस व्यापक दयाभाव और ईसाईयत के बाद आने वाले सेवाभाव में क्या फ़र्क़ है ?

सुरेश : ईसाईयत में जो सेवाभाव केंद्र में आया उसमें सभी मनुष्यों की सेवा का भाव निहित है। पेगन परम्पराओं में यह दायित्वबोध मनुष्य मात्र के प्रति नहीं बल्कि सारे प्राणी जगत के प्रति हुआ करता था पर उसकी वास्तविक पहुँच और आकांक्षा एक सीमित दायरे तक थी। ईसाईयत के उपरांत सेवाभाव की पहुँच सारी मनुष्यता तक हुई। वहाँ यह माना गया कि ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जिसके प्रति सेवाभाव न रखा जा सके। यह सच है कि ईसाईयत में सेवा का यह भाव अपने से अलग मनुष्यों को 'सही मार्ग' पर लाने से आत्यंतिक रूप से जुड़ा हुआ है।

उदयन : 'सही मार्ग' पर लाना भी वहाँ सेवा ही है।

सुरेश : और यह सेवा भाव अन्य मनुष्यों के प्रति गहरे दायित्वबोध से उत्पन्न होता है, अन्य के आध्यात्मिक जीवन के प्रति दायित्वबोध से। पर यह एक ख़तरनाक दायित्व बोध भी है क्योंकि इस बोध का वहन करने वाला मनुष्य यह मानकर चलता है कि उसे यह पता है कि आध्यात्मिक कल्याण का क्या मार्ग है। यह सेवा विचार का अँधेरा पक्ष है। सेवा के विचार में सेवा न क़बूल करने वाले के प्रति हिकारत या हिंसा का भाव नहीं होना चाहिए। सेवा न क़बूल करने वाले को यह अधिकार होना चाहिए कि उसे अकेला छोड़ दिया जाए। इस बात को आधुनिक व्यक्तिवाद एक बिल्कुल ही दूसरे रास्ते से पाने की कोशिश करता है। पर वह एक अलग कहानी है। किसी भी उपस्थित सेवा की अस्वीकृति को अंधविश्वास कहना या आदिम भाव की अभिव्यक्ति मानना उचित नहीं है। हर मनुष्य के आध्यात्मिक स्वास्थ्य और नियति तय करने के अधिकार का दावा अपने आप में ख़तरनाक है। लेकिन इसमें तनिक संदेह नहीं कि सेवा की ऐसी विराट कल्पना समस्त मानव-विमर्श पटल के लिए एकदम नयी और अपूर्व थी। इसके तत्त्व अन्य परम्पराओं में भी थे पर ईसाईयत ने इसे बिल्कुल ही नये धरातल पर परिभाषित किया। उस धरातल से नैतिक दायित्व बिल्कुल ही नया आयाम पा लेता है। इस धारणा का विशिष्ट अपूर्व आयाम यह है कि अगर कहीं भी कोई भी मनुष्य दुखी है तो उसके प्रति हमारी ज़िम्मेदारी है। और यह सच है कि इतने विराट दायित्व का वहन करने की क्षमता मानवता

सामान्य परिस्थिति में कम ही जुटा पाती है। लेकिन इस बोध–मान्यता में एक अद्भुत प्रकार की सम्भावना निहित है। हमारे अपने निकट के अनुभव में मदर टैरेसा इस सम्भावना की दिव्यता का प्रतीक हैं। समस्त मानव मात्र के प्रति सेवाभाव ईसाई परम्परा की अद्भुत देन है। विशेषकर आधुनिक संदर्भ में यह पूरी दुनिया में सामाजिक–राजनीतिक कार्य के लिए भिन्न रूपों में प्रेरणा और आदर्श रही है। गाँधीजी के संकल्प और संघर्ष में इसका प्राथमिक स्थान रहा है।

सामी कल्पना जगत में, विशेषकर उसके चरम क्षणों में, या कहें उसके स्वबोध के पवित्र विशुद्ध क्षणों में, पेगन जगत जैसी रूपाकारों को उनकी विविधता में मुक्त विचरण की स्वीकृति देना असम्भव था।

मध्ययुगीन युरोप में ईसाई कल्पना जगत में सत्य और झूठ दो समानांतर तत्त्वों और शक्तियों के रूप में पहचाने जाते थे। इसलिए निरूपण के रूपाकारों को नियंत्रित करने की आवश्यकता होती थी। जैसे इस परम्परा में प्रस्तुत सेवा की स्वीकृति–अस्वीकृति का प्रश्न बेमानी है, ठीक उसी प्रकार उस चिंतन–धुरी की मान्यता यह रही कि केवल सत्योन्मुखी रूपाकारों को ही स्वीकृति प्रदान की जा सकती है। इसलिए सही और ग़लत रूपाकारों को जाँचने और अलगाने के मापदण्ड तैयार किये गये ताकि यह स्पष्ट हो सके कि क्या स्वीकार्य होगा और क्या नहीं।

आपने कला के विषय में कहा कि हमारी परम्परा में कला की कोई सीमा नहीं बाँधी गयी थी। इसका यह आशय भी है कि ऐसा कोई कलात्मक रूपाकार नहीं हो सकता जो पूर्णत: अस्वीकार्य हो। यह हो सकता है कि कुछ रूपाकार अधिक पसंद किये जाएँ, कुछ कम। कुछ को उत्तम कहा जाए, कुछ को अधम। लेकिन किसी भी रूपाकार के पूर्ण निषेध या अस्वीकृति की स्थिति नहीं आती। कम से कम इसके लिए हमारी परम्परा में कोई सैद्धांतिक आधार नहीं है। इसीलिए हमारे यहाँ अस्पृश्यता के प्रश्न पर गाँधीजी का यह कथन मौलिक महत्त्व का है कि अस्पृश्यता के लिए हमारे यहाँ ऐतिहासिक या सामाजिक आधार भले रहा हो पर कोई भी दार्शनिक आधार नहीं रहा। मुझे लगता है इस तत्त्व को पहचानना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

समस्त मानव अतीत में पहली बार सामी परम्परा में छवि मात्र से भय की शुरुआत होती है; चित्रण (निरूपण, प्रतिरूपण) से महा भय की अपूर्व शुरुआत। इस भय का कारण निरूपण के सही रूपाकारों को पहचानने की बेचैनी में निहित है। निरूपण के ऐसे रूपाकारों को खोजने की बेचैनी जो झूठ की सेवा में न लग पाएँ, असत्य नहीं बल्कि कुटिल शक्तिमान झूठ की चाकरी या सेवा में, यानी शैतान की सेवा में न लग पाएँ। वे रूपाकार जो शैतान की सेवा–चाकरी में लगने वाले हों, उन्हें निर्वासित करना ही श्रेयस्कर माना गया। यहाँ प्रश्न उठता है कि मात्र निरूपण से महा भय की उत्पत्ति का आधार, या परिवेश क्या है। ऐसे

पेगन समाजों में नयी–नयी उपासना पद्धतियाँ, दर्शन, विभिन्न प्रकार के कौशल–कलाएँ उत्पन्न होते रहे हैं। ... उन समाजों में लेन–देन दोनों दिशाओं से होता रहा है। युरोप में उसकी शुरुआत इसीलिए रेनेसाँ के बाद से होती है। आधुनिक युरोप में इस भाव और मर्यादा को ग्रहण करने में लम्बा समय लगा। उसे अपने आप से अति कठिन और मार्मिक संघर्ष करना पड़ा है। मैं एक दृष्टांत देता हूँ। बात छोटी–सी है पर इससे एक गहन दार्शनिक तत्त्व स्पष्ट होता है। जब राजा राममोहन राय का इंग्लैण्ड में देहांत हुआ, एक बड़ी मुश्किल क़ानूनी स्थिति उत्पन्न हुई कि उनके शरीर का क्या किया जाए। उसे दफ़नाया नहीं जा सकता था क्योंकि वे ईसाई नहीं थे, उनका बप्तिस्मा नहीं हुआ था। उनके शरीर को जलाया भी नहीं जा सकता था क्योंकि यह क़ानून के ख़िलाफ़ था, उसके लिए क़ानून में कोई प्रावधान नहीं था। इसका समाधान यह निकाला गया कि उनके शरीर को एक निजी ज़मीन में दफ़नाया जाए। इस प्रकार की व्यवस्था समस्त युरोप में बीसवीं शती के आरम्भ तक क़ायम रही।

अपूर्व भाव का उदय कैसे सम्भव हुआ। सार्वभौतिक दायित्व के विचार में एक विराट सौंदर्य और दिव्यशक्ति की झलक का अहसास होता है। लेकिन क्या मात्र निरूपण से, मात्र छवि से भय इसी बोध–मान्यता का अँधेरा पक्ष नहीं है? दरअसल इस प्रकार का भय स्वयं से भय का ही रूप है। यह अपनी परछाईं से घबराने जैसी बात है। मनुष्य निरूपण का प्राणी है क्योंकि उसके पास भाषा है।

भाषा कोई महज ऐतिहासिक शिल्प–तथ्य (आर्टीफ़ैक्ट) नहीं है। भाषा अपने बोलने और बरतने की पद्धतियों में भले ही ऐतिहासिक हो पर यह इतिहास एक ऐसी चीज़ पर आधारित है जो इतिहास से परे है, जो निश्चित इतिहास से उत्पन्न नहीं हुआ है। उसका संबंध मनुष्य प्रजाति के होने के तथ्य से है। इस अर्थ में मनुष्य अद्वितीय ढंग से निरूपण समर्थ प्राणी है। निरूपण के दो आशय हैं। पहला सत्य की खोज और दूसरा यह चेतना कि निरूपण स्वयं सत्य नहीं है। भाषा अपने होने मात्र से यह गहरी विडम्बना उत्पन्न करती है। एक ओर भाषा सम्भावित सत्य की खोज है, और दूसरी ओर यह आभास कि इस खोज का परिणाम हमें सत्य के समीप से आगे नहीं ले जा पाता। लेकिन भाषा की उपस्थिति ही ऐसी एकमात्र चीज़ है जो सत्य के बोध और खोज को सम्भव बनाती है। निरूपण के निर्वासन का आधार केवल यह दावा हो सकता है कि पूर्ण अंतिम सत्य की पहचान/पकड़ हासिल हो सकती है। सत्य का बोध एवं सत्य के प्रति निष्ठा–आग्रह सामी परम्परा की विशेषता नहीं है, यह तो मानव जीवन में निहित तथ्य है। कोई ऐसी भाषा नहीं है जिसमें 'सत्य' के लिए शब्द न हो। वह कैसी भी भाषा क्यों न हो। चाहे उसके प्रयोग, अनुभव और स्मृति का दायरा कितना भी अल्प–संकीर्ण हो। वह भाषा उत्कृष्ट हो, न हो। यही कारण है कि सत्य का धरातल एक ऐसा धरातल है जिस पर खड़े होकर किन्हीं भी दो मनुष्यों के बीच संवाद हो सकता है। यह एक ऐसी अवधारणा है जिसमें उसके रूपाकारों के विषय में मतभेद अवश्य होते हैं; सत्य को कैसे जाना जा सकता है, सत्य को कितना जाना जा सकता है, सत्य को किसने जाना है, ये सब प्रश्न उठते हैं। पर एक बात इसके पीछे बनी रहती है और वह है सत्य की अनंतता/अनंतिमता। सामी परम्परा की विशेषता यह है कि उसने प्रथमत: यह प्रतिष्ठित किया कि परम सत्य की पहचान उसको हासिल है, और वह उसके पास सुरक्षित है। सामी परम्परा में भी यहूदियों में मानवता के प्रति दायित्व का भाव नहीं था। उसमें मानव प्रजाति के प्रति दायित्व–बोध उसके विशेष चुने अंश, यहुदियों तक ही सीमित था। ईसाई धर्म प्रवर्तन के पश्चात इस दायित्व बोध–अवधारणा का गुणात्मक विस्तार हुआ। यह बोध समूची मानव प्रजाति तक फैल गया। यह पहली बार सार्वभौमिक हुआ। इस दृष्टि के अनुसार सत्य जाना हुआ है, और जो इसके विपरीत है वह झूठ है। इसमें दो चीज़ें ध्यान देने योग्य हैं। पहली यह है कि परम सत्य का यथार्थ इतिहास से परे है, महज मानव सृष्टि से नहीं, सृष्टि मात्र से परे है। लेकिन उस अलौकिक परम सत्य की सूचना एक सामान्य मायने में ऐतिहासिक घटना है।

पेगन परम्परा में सृष्टि की कल्पना का कोई सर्जक नहीं है। यहाँ ऐसा नहीं माना जाता कि यहाँ जो कुछ भी आँखों के सामने का अनुभव है, वह परम सत्य से भिन्न है। यह अवश्य है कि सत्य पारगामी है पर वह सृष्टि से अलग नहीं है। लेकिन यहूदी मसीहाओं द्वारा प्रशस्त सामी परम्परा में, जिसका हम ज़िक्र कर रहे थे, परम सत्य सृष्टि से बिल्कुल अलग चीज़ है और उसकी सम्प्रभुता पर कोई अंकुश नहीं लगाया जा सकता। उसकी स्थिति सर्वोच्च है। परम सत्य भले ही मानव सृष्टि से अलग हो लेकिन उसकी जानकारी, सूचना का एकमात्र माध्यम मानव ही है। पेगन बोध और दृष्टि के अनुसार परम सत्य समस्त जगत में व्याप्त है। उसकी उपस्थिति के संकेत और उसका यथार्थ मानव प्रजाति तक सीमित नहीं है।

छवि से भय मानवीय इतिहास में एक बिल्कुल नयी घटना था। यह सच है कि छवियों की उपस्थिति हमेशा से ही उद्वेलनकारी रही है। इस उद्वेलन की तीव्रता को जादू के प्रयोगों में देख सकते हैं। बल्कि जादू की आधारभूत अवधारणा ही छवि के वास्तविकता से अति नैकट्य स्थापित कर पाने में है। मान्यता यह है कि विशेष प्रयोग के अंतर्गत छवि जिस वस्तु का निरूपण है, कुछ समय के लिए वह स्वयं उस वस्तु में घटित हो जाती है। इसलिए आप निरूपण के साथ जो व्यवहार

करते हैं, वह वस्तु पर घटित हो जाता है। ज़ाहिर है कि मात्र छवि की उपस्थिति में एक तरह की बेचैनी और असहज सम्भावना सदैव रही है। छवि का भय सामी परम्पराओं की तीनों शाखाओं में अलग-अलग तरह से फलित हुआ।

पहले जूडायिक दृष्टि को देखें। पहली शताब्दी के यहूदी मंदिर के उत्खनन में कुछ ऐसे म्यूरल मिले हैं जिनमें बाइबिल की कथाओं का चित्रण है। वहाँ केवल उन छवियों को स्थान दिया गया है जो यहूदी मसीही परम्परा में स्थापित सत्य का निरूपण करती थीं। इस सीमित स्वीकृति में निहित है परम सत्य, शब्द और छवि के बीच एक विशिष्ट समीकरण। सामी अवधारणा के अनुसार परम सत्य को जानने का एकमात्र मार्ग 'रिविलेशन' है और वह घटित परम सत्य दिव्य मसीहों के बोले शब्दों में सुरक्षित है। सामी कल्पना-विमर्श में घटित परम सत्य (रिविलेशन) का वाहक शब्द ही हैं और शब्द ही हो सकते हैं। लेकिन जिस प्रकार लेखन बोले शब्द का वाहक बनता है, छवियाँ, विशेषकर घटित परम सत्य की घटनाओं को अंकित करती छवियाँ, भी शब्द का वाहक बन सकती हैं लेकिन यहाँ अन्य छवियों या चित्रों के लिए कोई स्थान नहीं है। लेकिन तब भी यहूदी दृष्टि में छवियों की छोटी-सी जगह तो अवश्य है। ईसाई दृष्टि में यह भय है अवश्य लेकिन बहुत गहरा नहीं है। इसलिए बाइज़ेंटीयम के पूर्वी ईसाई साम्राज्य में मूर्ति शिल्प की कोई परम्परा नहीं रही पर वहाँ सपाट-दो आयामी चित्रों को स्वीकृति प्राप्त थी, बहुआयामी चित्रों या छवियों को नहीं।

तब बाइज़ेंटीयमी ईसाई-विमर्श में यह प्रश्न उठा कि हम जो सत्य के वाहक हैं, हम जो सत्य के संरक्षक हैं, हमें शिकस्त क्यों मिल रही है। इस प्रश्न का जो जवाब उन्होंने खोजा, वह यह था कि हम इसलिए हार रहे हैं क्योंकि हम मूर्तिपूजक हो गये हैं। पर दरअसल इस कलह-क्लेश का स्रोत मूर्तिपूजा नहीं, मात्र 'छविपूजा' थी। इसके बाद वहाँ बड़ा आंदोलन चला जिसने तमाम छवियों को नष्ट करने का अभियान चलाया। छवियाँ (आईकंस) बनाने वालों को भी मारा गया। लेकिन तब भी छवियों से भय व्यापक रूप नहीं ले पाया, ईसाईयत में छवि का दार्शनिक-धार्मिक आधार क्षीण, बिखरा हुआ-सा ही बच-बन पाया।

सेवा भाव अन्य मनुष्यों के प्रति गहरे दायित्वबोध से उत्पन्न होता है, अन्य के आध्यात्मिक जीवन के प्रति दायित्वबोध से। पर यह एक ख़तरनाक दायित्व बोध भी है क्योंकि इस बोध का वहन करने वाला मनुष्य यह मानकर चलता है कि उसे यह पता है कि आध्यात्मिक कल्याण का क्या मार्ग है। यह सेवा विचार का अँधेरा पक्ष है। सेवा के विचार में सेवा न क़बूल करने वाले के प्रति हिकारत या हिंसा का भाव नहीं होना चाहिए। सेवा न क़बूल करने वाले को यह अधिकार होना चाहिए कि उसे अकेला छोड़ दिया जाए। इस बात को आधुनिक व्यक्तिवाद एक बिल्कुल ही दूसरे रास्ते से पाने की कोशिश करता है।

इस्लामी कल्पना-विमर्श जगत में छवि से भय का दार्शनिक-धार्मिक आधार उग्र और चरम पर है। यह सच है कि इस्लामी दुनिया भी चित्रों को पूरी तरह बहिष्कृत नहीं कर पाई, वहाँ भी चित्रों का स्थान रहा है; चित्र बनाने की परम्परा भी रही। पर दुनिया में ऐसी एक भी मस्जिद नहीं है जहाँ पर चित्र हों। ऐसा न यहूदी मंदिरों के बारे में कहा जा सकता है और न ही ईसाई गिरजाघरों के बारे में। इस्लाम के उपासना-गृहों में चित्रों का स्थान अकल्पनीय है। इस परम्परा में चित्रों को बहिष्कृत करने के कहीं अधिक पुख़्ता मापदण्ड तैयार किये गये ताकि यह स्पष्ट हो सके कि क्या स्वीकार्य होगा और क्या नहीं। मूर्ति शिल्प के लिए तो वहाँ बिल्कुल भी जगह नहीं है। इसके समानांतर एक महत्त्वपूर्ण विराट तथ्य पर नज़र रखना ज़रूरी है। भारत में मुग़लकाल में चित्रकारों को बहुत राजाश्रय मिला और उसका भारतीय कला और संस्कृति में अपना बड़ा योगदान रहा है। पर वहाँ मूर्ति शिल्पियों और शिल्प को किसी भी तरह का राजाश्रय नहीं मिला।

इस्लामिक जगत में जिस कला को श्रेष्ठ मान्यता प्राप्त है और जिसके सहारे वहाँ छवियों की सूक्ष्म वापसी होती है, वह है कैलिग्राफ़ी, यानी किताबत। हम यह कह सकते हैं कि छवि के भय को

न पूरी तरह जीता जा सका और न यह अपना आतंक पूरी तरह से क़ायम कर पाया। दुनिया में कैलिग्राफ़ी की केवल दो महान परम्पराएँ हैं : इस्लामी और चीनी। पर उनके दार्शनिक आधार बहुत भिन्न हैं। चीन की कैलिग्राफ़ी असीम की उपासना है। अनंत, असीम की सिद्धि और उपासना दोनों ही इस कैलिग्राफ़ी में समाहित हैं। लेकिन अरबी कैलिग्राफ़ी में यह उपासना और यह सिद्धि अकल्पनीय है। वहाँ उपासना शब्दों की ध्वनि में निहित है, उनके आकार लिपिरूप में नहीं।

उदयन : इसका अर्थ यह है कि वहाँ कैलिग्राफ़ी अलंकरण से अधिक कुछ नहीं।

सुरेश : इस्लामी परम्परा में कैलिग्राफ़ी की वैधता इसमें है कि वह सत्य शब्द का अलंकरण है। पर वह सत्य नहीं है। वह सत्य का माध्यम भी नहीं है। वह सत्य की सज्जा है, उसके सहारे सत्य तक पहुँचने की कल्पना भी स्वीकार योग्य नहीं है। चीनी कैलिग्राफ़ी में यह मान्यता निहित है कि आप उसके माध्यम से सत्य तक पहुँच सकते हैं। रूपाकारों की स्वायत्तता और ऊर्जा-शक्ति एक विशिष्ट अनायास भावना में निहित होती है, उसके स्रोत बहुत गहन हुआ करते हैं। सत्य की सत्यता इतनी व्यापक और गहन है कि उसकी मर्यादा और परिधि से कुछ भी बाहर नहीं। इसलिए हर रूपाकार में यह सम्भावना निहित है कि वह आपको सत्य से सम्बद्ध कर सके।

हर आवाज़ अलग हुआ करती है। बल्कि एक ही आवाज़ दो अलग समयों में अलग होती हैं। इसके बीच एक गुणात्मक अंतर हुआ करता है और वह बेचैनी का कारण बनता है। दोहराव की वैधता इस बात में है कि ऐसा कोई मार्ग है जो ज्ञात है लेकिन उस पर अडिग रहना आसान नहीं, और इसलिए उस मार्ग के सूचक शब्द-क्रियाओं को दोहराया जाना चाहिए। सारे अनुष्ठान यही करते हैं। लेकिन इसमें कभी न शांत हो सकने वाली बेचैनी निरंतर बनी रहती है, कि क्या यह वही मार्ग है ? मानवीय दोहराव केवल दोहराव नहीं हो सकते। उसमें कुछ न कुछ नया निश्चय ही अनजाने-अनायास प्रवेश कर जाता है, और पहली नज़र में सबसे निरर्थक क्रिया में भी कोई अद्भुत सम्भावना बनी रहती है। परफेक्ट दोहराव के प्रयोग-सिद्धांत में भी भिन्नता का कुछ स्थान होता है। उदाहरण के लिए एक ही मंत्र का अगर अलग-अलग लोग उच्चारण करें, तो हो सकता है कि उच्चारण बिल्कुल एक-सा हो तब भी उसकी ध्वनि में तो फ़र्क़ होगा। लेकिन उसे अर्थपूर्ण भिन्नता नहीं माना जा सकता। इस्लामिक कैलिग्राफ़ी की प्रामाणिकता इसमें है कि वह सत्य शब्द की ध्वनि समान मौन की स्थिति को भी निरंतर ध्वनित करती है। बाक़ी रही अन्य सज्जा, वह अच्छी हो सकती है, ख़राब हो सकती है पर वह अनिवार्य नहीं है। इसी तरह अनुष्ठानों में ध्वनि के भेद का महत्त्व नहीं है। पर शब्द और उनका उच्चारण बिल्कुल वही होना चाहिए जो होता आया है। यहाँ उच्चारण और ध्वनि में भेद किया गया है। संगीत की आधार इससे बिल्कुल भिन्न है। वहाँ ध्वनि भेद ही सत्य का माध्यम है, शब्द नहीं। अनुष्ठान में उच्चारण ही सत्य वाक्य है, वही सत्य-सम्प्रेषण के मर्म को आकार देता है। लेकिन संगीत में न शब्द, न लहज़ा और न उच्चारण, वहाँ वह स्थान ध्वनि का है और इस विशुद्ध ध्वनि का शब्द से कोई रिश्ता हो भी सकता है, नहीं भी। लेकिन शब्द भी एक विशिष्ट शक्ति तब ग्रहण करता है जब एक ध्वनि के रूप में वह एक विशिष्ट आकार पाता है। उसके बग़ैर न उसका कोई अस्तित्व है न महत्त्व।

उदयन : कल हम छवि के भय और कैलिग्राफ़ी के विषय में बात कर रहे थे। क्या आप इस विषय पर कुछ और कहना चाहते हैं।

सुरेश : संस्कृतनिष्ठ भाषाओं में कैलिग्राफ़ी के लिए कोई शब्द नहीं है।

उदयन : लिपि का अर्थ, हालाँकि लीपने से है पर उसका आशय भी इबारत से है, कैलिग्राफ़ी से नहीं।

सुरेश : उर्दू और अरबी में एक शब्द इस्तेमाल होता है— ख़त। उसमें इशारा लेखन क्रिया की ओर है। जबकि 'अच्छा लेखन' में कैलिग्राफ़ी की ध्वनि नहीं है। 'लेखन' शब्द का जो आर्थी ढाँचा है, उसमें इस अर्थ की सम्भावना अवश्य थी। लेकिन उसमें यह अर्थ मुखरित नहीं होता। मैंने यह प्रश्न ब्रिजेन्दर नाथ गोस्वामी से एक अलग ढंग से पूछा। मैंने उनसे कहा कि हमारे बोध या सोच की परम्परा में चित्र, चित्रण और चित्रित वर्णन मूल में हैं, उनकी हर ओर व्याप्ति है। लेखन की कल्पना, ऐसा लगता नहीं कि हमारे यहाँ शुरू हुई है। हमने लिपि अवश्य बनाई पर उसे बनाने की प्रेरणा बाहर से आयी है। उसे हमने जिस रूप में स्वीकार किया, उसमें हमारा पारिभाषिक योगदान है। हमारी लिपि पहले की लेखन पद्धतियाँ-लिपियों का यांत्रिक स्वीकरण नहीं है। वह एक बहुत ही भिन्न भाषिक सिद्धांत पर संयोजित हुई है। और इसीलिए वह ध्वनि, लिखित और चित्रित बीच के अंतर्संबंधों की एक नितांत भिन्न व्यवस्था प्रस्तावित करती है। लेकिन तब भी लिपि की मूल धारणा हमारी अपनी नहीं है। लेकिन कैलिग्राफ़ी जैसा प्रयोग हमारे यहाँ नहीं हुआ। इतनी पहचान हमारे यहाँ निश्चय ही है कि किसी भी मानवीय या लोक-क्रिया में विशुद्ध दोहराव सम्भव नहीं है। जब तक कोई मानव-क्रिया है, वह कितनी ही मामूली क्यों न हो, उसके दोहराव में कुछ भिन्न विशिष्ट सम्भावना का बीज अवश्य होता है। दोहराव में यह सम्भावना बनी रहती है कि कुछ ऐसा उत्पन्न हो जाए जो कभी न सोचा गया, न जाना गया। मानव जीवन में सृजन की कल्पना और सम्भावना इसी में निहित है कि छोटी-से-छोटी, निम्न से निम्न क्रिया में, ऐसा कुछ अनायास हो जाता है जो साक्षात् से परे हुआ करता है, जो उस क्षण तक गर्भस्थ रहा आया था। आपके हाथों वह अनायास ही हो जाता है जो आपसे परे होता है। चाहे वह आरती उतारना ही क्यों न हो।

आरती उतारने और कैलिग्राफ़ी में समतुल्यता है। आरती उतारना दोहराव है, एक ही बिंदु या एक ही आराध्य की कल्पना के इर्द-गिर्द आप चक्कर लगाते हैं। इस अर्थ में यह अत्यंत दोहरावपूर्ण कर्म है। लेकिन साथ ही वह बहुत गहन कर्म भी है क्योंकि उस कर्म में आप यह आशा करते हैं कि आप उससे पारलौकिक दिव्यता की कुछ अनुभूति कर पाएँगे। और इस प्रकार दोहराव का यह कर्म पारगामिता का मार्ग बन जाता है। यह तत्त्व बोध नि:संदेह कैलिग्राफ़ी में भी है। एक ही शब्द को बार-बार लिखते हुए, बार-बार सज्जित करते हुए आप सज्जा के परे निकल जाते हैं। आरती उतारने के भाव की दार्शनिक पुष्टि चीन के संदर्भ में काफ़ी स्पष्ट है।

लेकिन इस्लामिक कैलिग्राफ़ी के संदर्भ में यह पुष्टिकारक दर्शन उपलब्ध नहीं है। इस्लामिक कैलिग्राफ़ी में पुण्य का भाव अवश्य निहित है क्योंकि आप कुरान लिखते हुए वह लिख रहे हैं जो खुदा का कहा हुआ है। लेकिन अगर आप कुछ और लिख रहे हैं तब उसमें पुण्य कहाँ से और कैसे आये। चीनी कैलिग्राफ़ी परम्परा में इस बात का विशेष महत्त्व नहीं है कि आप क्या लिख रहे हैं जिस तरह जब कोई चित्रकार कोई चित्र बनाता है तो उसकी उपलब्धि इस बात पर निर्भर नहीं करती कि वह किस चीज़ या किस प्रकार की कल्पना को चित्रित कर रहा है। यह बड़ी विचित्र बात है कि हमारे जैसी परम्परा में जहाँ आरती उतारने जैसे दोहरावपूर्ण कर्म के ऐसे दार्शनिक आशय मौजूद है, वहाँ कैलिग्राफ़ी का नितांत अभाव है।

उदयन : क्या हम एक बार फिर आधुनिक जगत की सृष्टि की ओर लौटें ?

सुरेश : आधुनिक जगत की सृष्टि और उसकी कल्पना का स्रोत नि:संदेह सामी परम्पराएँ हैं। इस तथ्य का बयान और किसी तरह से किया ही नहीं जा सकता। ईसाई परम्परा की गहनतम उपलब्धि सेवा है, सेवा के प्रति गहन निष्ठा। सेवा का प्रयोग और उसकी परम्परा हर मानव समाज में है। लेकिन ईसाई धर्म के पहले उसके कुछ विशिष्ट दायरे हुआ करते थे। उन्हीं दायरों के भीतर सेवा का प्रयोग हुआ करता था। उन्हीं दायरों में सेवा के प्रति आग्रह और निष्ठा हुआ करती थी। यह मान्यता ईसाईयत

के साथ पहली बार आयी कि अगर कोई मानव कहीं भी कष्ट में हो तो उसकी सेवा करना भगवान की सेवा और एक मायने में सत्य की सेवा करने जैसा है। यह एक बहुत सुंदर और अद्भुत कल्पना और कर्म है। लेकिन इसका एक अँधेरा पक्ष यह है कि इस सेवा की कोई सीमा या मर्यादा नहीं है।

सेवा कल्पना– अवधारणा में निहित धर्मसंकट को मैं रेखांकित करना चाहूँगा। यदि कोई यह कहे कि उसे सेवा क़बूल नहीं है तो उसे सहज स्वीकार करने की दार्शनिक भूमि वहाँ नहीं है। हमारे यहाँ भी सेवा भाव/सेवा प्रयोग जारी रहे हैं। चाँदनी चौक में आज भी चिड़ियों का अस्पताल चलता है और वह संस्था आज भी गहन दार्शनिक बोध का जीवंत प्रतीक है। लेकिन कलकत्ता में यह केवल मदर टैरेसा कर सकी कि जो लोग मर रहे थे, जो लोग मृत्यु के बेहद क़रीब जा पहुँचे थे, उनकी समर्पित सेवा का दूसरा कोई उदाहरण मुझे भारत में नज़र नहीं आता। इसी कारण यह सम्भव हुआ कि मदर टैरेसा के प्रति उत्पन्न आदर–भाव ईसाई समूह तक सीमित नहीं रहा। हालाँकि वे नितांत जीसेस–निष्ठ महिला थीं, ठीक जैसे मीराबाई कृष्ण–निष्ठ थीं। उनके लिए तो एक ही किताब थी। उन्हें बाईबल के आगे पढ़ने की कोई ज़रूरत महसूस नहीं हुई। लेकिन उनकी सत्य निष्ठा की असीम–सी पहुँच सेवा के माध्यम से थी। सेवा की ईसाई परम्परा में दार्शनिक भूमि बड़ी भव्य है। इसकी प्रेरणा–प्रतिक्रिया में अन्य बहुत–सी परम्पराओं में बहुत–से सेवा के प्रयास और प्रयोग शुरू हुए। लेकिन कहीं भी सेवा की वैसी गहन निष्ठा और दिव्य ऊर्जा पनप नहीं पायी। कटु विडम्बना यह है कि मैं जिस दिव्य ऊर्जा और जिस गहन धर्मसंकट को रेखांकित करने का प्रयास कर रहा हूँ कि उसकी उपज भूमि वही है जो सेवा की है। वह उपज भूमि इस भाव–निष्ठा में निहित है कि मेरे सत्य के अलावा जो कुछ भी है, झूठ है।

परम सत्य के एकमात्र साक्षी और सिपाही होने की निष्ठा और ताक़त ने मध्यकालीन ईसाई युरोप को बेहद अकेला कर दिया था। वह युरोप के गहन अकेलेपन का दौर था। वह उसका एकांत नहीं था। वह अकेला छूट गया था। उसकी आकांक्षा तो समूचे विश्व पर छाने की थी पर वह अकेला रह गया था। एकांत में तो पारगामिता की सम्भावना हुआ करती है क्योंकि वहाँ आप तुच्छ चीज़ों से छूटकर अपने आप से, चरम सत्य से संबंध बनाते हैं। पर अकेले छूट गये उस युरोपीय समाज में अपने यथार्थ से परे कोई संबंध बनाने का वैध उपाय बाक़ी नहीं रहा था। वह रेनेसाँ के बाद उत्पन्न हुआ। रेनेसाँ ने युरोप को उसके अकेलेपन से राहत दिलायी। आधुनिक ज्ञान–व्यवस्थाएँ इसके अभाव में सम्भव नहीं थीं। इन व्यवस्थाओं की अपनी समस्याएँ हैं, इसमें शक नहीं। लेकिन वे समस्याएँ इसलिए हैं क्योंकि आधुनिक ज्ञान–व्यवस्था में असीम को या विराट को छूने की आकांक्षा युरोप के छह–सात सौ वर्षों की अकेलेपन की छाया में विकसित हुई है। उसकी कुछ समस्याएँ उस छाया से जुड़ी हैं।

मैंने पहले आपसे कहा था कि ऐतिहासिक धरातल पर भेदों की पहचान उन प्रतीकों के संदर्भ में होती है जो अभेद से संबंधित हैं। यह एक गहन विडम्बना है। लेकिन पेगन जगत में यह पहचान थी कि ये भेदोपभेद बहुत महत्त्व के नहीं है। यह बहुत स्थायी भी नहीं हैं। ये चीज़ें नितांत अनित्य हैं। ये कोई नित्य चीज़ें नहीं हैं। यह आभास इस कारण था यहाँ यह मान्यता है कि ये सब दृश्य जगत की अनित्य वस्तुएँ अभेद या असीम के ही रूप हैं। यह आपको पेगन जगत में कल्पना और व्यवहार के हर स्तर पर मिलेगी। लेकिन इस बात की इतनी गहरी विस्मृति हुई कि अठारहवीं शती में जब लोग युरोप से भारत आये तो धर्म की सार्विकता की सहज व्याप्त अवधारणा उन्हें बिल्कुल अनोखी लगी। जबकि यह बात स्वयं उनके अतीत में बहुत गहराई से व्याप्त रही थी। लेकिन वे उस समय तक उस भाव की स्मृति भी खो चुके थे। लेकिन पेगन जगत में अभेद के दार्शनिक बोध की सहज उपस्थिति के कारण भारत के विभिन्न समाजों–सम्प्रदायों के बीच संवाद हमेशा ही सम्भव रहे आये थे। प्राय: हर सम्प्रदाय भले ही यह मानते रहे हों कि उनका कर्मकाण्ड और परम सत्य की अभिव्यक्ति अति भव्य है, श्रेष्ठ हैं पर साथ ही वे इससे इंकार नहीं कर सकते थे कि उनकी भव्य हक़ीक़त और अन्य की सामान्य फ़ीकी वास्तविकता के बीच कोई तात्विक मूल भेद है। वह सच और झूठ के बीच का फ़ासला नहीं है। सत्य की ही धुरी से



लातीनी अमेरिकी में एक पेगन आराध्य-देव

कोई अधिक निकट है, कोई नहीं है, सम्प्रदायों-समाजों के बीच की भिन्नता मात्र नाम-रूप की है।

उदयन : लेकिन आधुनिक दुनिया के बनने की आप जो बात कर रहे थे, जहाँ आपने कहा कि उसके स्रोतों में यूनानी और रोमन पेगन परम्पराएँ और सामी परम्पराएँ शामिल हैं, उस आधुनिक दुनिया की दार्शनिक परम्पराओं ने जिस सार्विक सत्य की प्रस्तावना की, वह उस पेगन सत्य से काफ़ी अलग है जहाँ यह माना जाता था कि विभिन्न भेदोपभेद एक ही असीम के या एक ही अभेद तत्त्व के विविध रूप या वर्णन हैं। आधुनिक जगत द्वारा स्थापित सत्य से अलौकिक का विलोपन हो गया। उसमें यह माना गया कि भौतिकता की सत्ता ही सार्वभौमिक है। शायद इस आधार पर एक नयी सार्विकता, यूनिवर्सेलिटी का जन्म हुआ। इन दो सार्विकताओं की (आधुनिक और पेगन) भिन्नताओं के आधार पर जो मानवीय व्यवहार अस्तित्व में आएँ, आप उन्हें किस तरह देखते हैं ?

सुरेश : पहले हम यह समझें कि यह भिन्नता क्या है। आधुनिक चेतना का स्वबोध यह है कि उसने मानव इतिहास में पहली बार सार्विकता के स्वप्न को साकार कर दिया है। उसका यह मानना है कि उसके पहले की सार्विकता की कल्पना संकीर्ण एवं आंशिक थी और वह कभी भी सचमुच साकार नहीं हो सकती थी। वह स्वप्न मात्र ही थी। आधुनिक चेतना यह मानती है कि उसने मानव कल्पना में निहित दीर्घ प्रामाणिक तत्त्वों को यथार्थ रूप दिया है। एक अर्थ में जो आधुनिकता के पहले धुँधले विराट अतीत में मात्र स्वप्न की मरीचिका या सांत्वना थी, उसने उसे यथार्थ कर दिया। दूसरे शब्दों में उसका यह दावा है कि वे स्वर्ग को एक

कोई ऐसी भाषा नहीं है जिसमें 'सत्य' के लिए शब्द न हो। वह कैसी भी भाषा क्यों न हो। चाहे उसके प्रयोग, अनुभव और स्मृति का दायरा कितना भी अल्प-संकीर्ण हो। वह भाषा उत्कृष्ट हो, न हो। यही कारण है कि सत्य का धरातल एक ऐसा धरातल है जिस पर खड़े होकर किन्हीं भी दो मनुष्यों के बीच संवाद हो सकता है। यह एक ऐसी अवधारणा है जिसमें उसके रूपाकारों के विषय में मतभेद अवश्य होते हैं; सत्य को कैसे जाना जा सकता है, सत्य को कितना जाना जा सकता है, सत्य को किसने जाना है, ये सब प्रश्न उठते हैं। पर एक बात इसके पीछे बनी रहती है और वह है सत्य की अनंतता/अनंतिमता। सामी परम्परा की विशेषता यह है कि उसने प्रथमतः यह प्रतिष्ठित किया कि परम सत्य की पहचान उसको हासिल है, और वह उसके पास सुरक्षित है।

अर्थ में ज़मीन पर ले आये हैं। पेगन बोध में सत्य की सर्वव्यापकता ऐसी है कि ऐसा कोई स्थान नहीं, ऐसा कोई काल नहीं, कोई ऐसी भाषा नहीं जिसमें वह घटित नहीं होता हो। यह अवश्य है कि कहीं वह स्पष्ट रूप से घटित हुआ, स्वीकारा गया, कहीं क्षीण रूप से। सत्य का ऐसा अस्तित्व है कि उसके जो विपरीत है, उसकी स्वायत्त सत्ता अकल्पनीय है। आधुनिक सार्विकता की कल्पना यह है कि सार्विकता ऐतिहासिक क्रिया की उपलब्धि है। चूँकि वह ऐतिहासिक क्रिया की ही उपलब्धि हो सकती है, इसलिए वह धीरे-धीरे उपलब्ध होती है। उसकी गति को धीमा या तेज़ किया जा सकता है।

उदयन : क्या आप यह कह रहे हैं कि चूँकि सार्विकता की आधुनिक कल्पना में ऐतिहासिक प्रक्रिया को इतनी केंद्रीयता प्राप्त है इसलिए वह हमेशा ही अपूर्ण बनी रहती है और एक सम्भावना के रूप में ही उपस्थित रहती है ?

सुरेश : मैं यह कह रहा हूँ कि आधुनिकता की यह परिकल्पना है कि सार्विकता की प्रक्रिया किसी विशेष स्थान और समय में आरम्भ होती है। और इस आरम्भिक स्थान को सार्विकता का केंद्र क़रार दिया जाना चाहिए। इस क्रिया के कुछ वाहक हैं। वे हैं मानवीय संस्थान, शक्ति और विचार संरचनाएँ आदि। सार्विकता की क्रिया किसी केंद्र से परिधि में फैलती है। प्रगति की सारी कल्पना फैलाव की इसी गति और स्वरूप में निहित है। इस क्रिया की पहचान का प्रश्न भी उठता है। इसकी पहचान का आधार यह विचार रहा है कि मानव जीवन सदैव संकीर्ण दायरों में फँसा रहा है जिसका कारण अविकसित तकनीक और अचल दूरी में निहित अलगाव रहे हैं। आधुनिकता पूर्व की भिन्न जीविकाओं और जीवनशैलियों के बिखरे और एक-दूसरे से अनजान मानव अस्तित्व को उसकी स्वाभाविक अटल नियति माना जाता था। उसमें अपनी छोटी-सी संकीर्ण दुनिया, चिरकाल से एक ही क्रम और क्रिया दोहराने में मग्न, बाहर की हर चीज़ के प्रति उदासीन थी। नये और अनज़ान को जानने की जिज्ञासा उनमें नहीं रही क्योंकि आधुनिक मान्यता के अनुसार समूचे जगत की वास्तविकता की कल्पना भी उनके बोध के क्षितिज में प्राय: असम्भव थी। आधुनिक तकनीक के सहारे ही मनुष्य चिरकाल से स्थिर, गतिहीन, जिज्ञासाहीन, जड़ जीवन क्रिया को भेद कर एक गतिमान निरंतर भव्यतायुक्त असीम जीवन-शैली को अपना सकता है। यह असीम प्रगति की ओर उन्मुख ऐतिहासिक प्रक्रिया निरंतर परिष्कृत तकनीक और संगठन के माध्यम से मनुष्य के स्वातंत्र्य के क्षेत्र का विस्तार कराती है और इस क्षेत्र के विस्तार और परिष्कार की ठोस पहचान और प्रमाण है, उपभोग सामग्री का हर समय बेहतर होता स्वरूप और भविष्य में उसकी अपार उपलब्धि की सम्भावना। और आधुनिक कल्पना के अनुसार इस प्रकार निश्चित ही एक दिन ऐसा आएगा जब सबके पास सब कुछ होगा। इस तरह इस विचार में दो तत्त्वों का संयोग है; सार्विकता और स्वातंत्र्य। ये दोनों धारणाएँ साथ-साथ चलती हैं : सच्ची सार्विकता का क्षण ही सच्चे स्वातंत्र्य का क्षण हैं। स्वातंत्र्य का यहाँ अर्थ बंधन से मुक्ति है: ऐसी स्थिति और ऐसा मर्यादा बोध जिसमें आप जो सोचे, जो चाहें उसे कर पाना सम्भव हो। इस संदर्भ में यह महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है कि संस्कृतनिष्ठ भाषाओं में 'फ्रीडम' के समानांतर शब्द का अभाव है। स्वातंत्र्य जिसका अकसर प्रयोग किया जाता है, एकदम भिन्न अर्थ के धरातल की उपज है।

उदयन : क्या इसे मर्यादा से मुक्ति कहा जा सकता है ?

सुरेश : उसमें मर्यादा की सम्भावना है या नहीं, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। सीमा के बिना मर्यादा की कल्पना नहीं हो सकती। मानव जीवन में सीमा के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है। एक ऐसा शब्द अंग्रेज़ी में है जो हमारी भाषाओं में नहीं है पर जिसकी बड़ी आभा है; 'डिग्निटी'। मानवीय डिग्निटी में भी सीमाएँ होती हैं, एक वे जो स्वारोपित हैं और दूसरी वे जो तत्कालीन मानकों द्वारा आरोपित की जाती हैं। सीमा मुक्त मानवीय क्रियाओं को दार्शनिक आधार देना असम्भव है क्योंकि

अर्थपूर्ण मानव जीवन की सम्भावना बिना सीमाओं की कल्पना के नहीं हो सकती। सीमाएँ क्या हों, कैसी हों, उन्हें कौन तय करे, इस पर बहुत बहस है, और हो सकती है। इस पर पूर्ण सहमति शायद कभी न बने। लेकिन दूसरे जीवों के लिए यह नहीं है। एक हाथी को दु:ख हो सकता है, उल्लास हो सकता है, पर उसकी अनुभूति में 'डिग्निटी' जैसे तत्त्व की उपस्थिति अकल्पनीय है।

उदयन : क्या यह इसलिए नहीं है क्योंकि मानव जीवन ऐसा अकेला जीवन है जिसमें स्वभाव के अलावा स्वधर्म की भी परिकल्पना है और यही नहीं इनके बीच अंतराल भी हुआ करता है। उदाहरण के लिए चिड़ियों में, हमारी बातचीत की शुरुआत में आयी चिड़ियों के स्वभाव और स्वधर्म के बीच अंतराल नहीं है उसका जो स्वभाव है, वही स्वधर्म है पर मनुष्य के स्वभाव और स्वधर्म के बीच गुणात्मक अंतराल है ...

सुरेश : इनके बीच निश्चय ही गुणात्मक अंतराल है और हमेशा से रहा है। यह अनादि है। मानव स्वधर्म असीम की कल्पना के बिना सम्भव नहीं है। अन्य प्राणियों के स्वधर्म में असीम का कोई स्थान नहीं है। ज़ाहिर है जो भी बात हम कर रहे हैं, मानव बोध और क्रिया के माध्यम से ही कर रहे हैं, यह हमारी सीमा है। हम यह नहीं जान सकते कि हाथी या कुत्ते की नज़र से अनंत का क्या स्वरूप है। लेकिन उनका जो व्यवहार हम देखते हैं, उसमें असीम का स्थान नज़र नहीं आता। अगर उनके स्वाभावानुकूल परिस्थितियाँ हों तो उनमें कोई बेचैनी नज़र नहीं आती। लेकिन मनुष्य में सामान्य ज़रूरतों के पूरा होने पर भी बेचैनी की समाप्ति नहीं होती।

उदयन : उसका कारण उसके भीतर अनंत की सम्भावना का बोध है।... पर हम आधुनिकता-बोध में सार्विकता के विचार पर दोबारा लौटें ....

सुरेश : आधुनिक सार्विकता की परिकल्पना ऐतिहासिक प्रक्रिया की देन है। आधुनिक दृष्टि के अनुसार आधुनिकता के पहले मानव अस्तित्व अंशों में बँटा हुआ था। उसमें सार्विकता के बोध की सम्भावना अत्यंत क्षीण थी। आधुनिक जगत के निर्माण में यह पहली बार सम्भव हुआ है कि सार्विकता का बोध सम्पूर्ण हो सके। सार्विकता की कल्पना और यथार्थ पहली बार सम्भव हुए हैं। मानवीय जीवन में स्वतंत्रता और चयन की सम्भावना को कुछ परिस्थितियाँ संकुचित करती हैं, उनमें प्रमुख हैं, वस्तुओं की कमी। इसलिए आधुनिक समय में पहली बार अभाव का स्थान प्राचुर्य लेता है। अभाव से प्राचुर्य की ओर पहुँचने की प्रक्रिया ही प्रगति है। यही सार्विकता है। प्राचुर्य, प्रगति और सार्विकता, ये तीनों साथ-साथ चलते हैं। चूँकि ये सब ऐतिहासिक प्रक्रिया के अंग हैं इसलिए इसके फलस्वरूप कुछ ऐसे समाज हैं जिनमें सार्विकता प्रत्यक्षत: स्थापित हो चुकी है। बाक़ी स्थानों पर ऐसा नहीं हो पाया है, वहाँ वह हो रहा है। कुछ लोग प्रगति के रास्ते पर बहुत आगे हैं, कुछ पीछे हैं। जो आगे हैं उनका अतीत पिछले समाजों का वर्तमान है। आधुनिक युग में पहली बार समाजों की पहचान ऐतिहासिक उपलब्धियों के आधार पर बननी शुरू हुई। हम जिन वस्तुओं का उपभोग करते हैं उन्हीं से हमारी पहचान बनने की शुरुआत हुई। गाँधीजी की आधुनिक सभ्यता के प्रति सबसे कटु आलोचना यही थी कि इसमें 'स्व' की परिभाषा इस बात पर निर्भर है कि आप कौन सी चीज़ें बनाते और किन चीज़ों का उपभोग करते हैं। इस तरह सारे जीवन का मूल्यांकन उपभोक्ता की दृष्टि से होता है और गुणवत्ता की कल्पना भी वहीं से अर्जित होती है। यानी उसकी उपज का धरातल वस्तुएँ ही हैं। बेहतर से बेहतर वस्तुओं के बन पाने में ही प्रगति निहित है और उसी में मूल्य हैं। तथ्य और मूल्य के संबंध का स्वरूप यह है कि तथ्य के बदलाव में ही मूल्य निहित है। मूल्य का कोई स्थायी आयाम या स्रोत नहीं है। इससे अलग पेगन जगत में सार्विकता की सम्भावना जीवन के हर स्तर और कार्य में निहित है। वह इस पर निर्भर नहीं है कि आप कौन-सी वस्तुओं का उपभोग कर रहे हैं। आधुनिकता और पेगन परम्परा में यह एक मूलभूत अंतर है।

उदयन : बीसवीं शती के आरम्भ में दादू दयाल की परम्परा में एक विचारक हुए हैं, साधु निश्चलदास। उनकी पुस्तक का नाम है *विचार सागर*। वे उसमें इस बात पर विचार करते हैं कि आनंद कहाँ है? वे समझाते हैं कि आनंद वस्तुओं में नहीं, कहीं और है। वे कहते हैं कि जब बुद्धि आत्मविमुख होती है, उसमें चंचलता रहती है। इस कारण उसमें विषय की आकांक्षा होती है (विषय को आप वस्तु कह लीजिए) चंचल बुद्धि में आत्म का प्रतिबिम्ब बन नहीं पाता। पर इच्छित वस्तु को पाकर क्षणभर के लिए बुद्धि की चंचलता शांत हो जाती है और उसमें आत्म का बिम्ब बन जाता है और यही आनंद का कारण है इसलिए देखा जाए तो विषय आनंद का कारण नहीं है। अगर आनंद वस्तु में होता तो एक ही वस्तु के दो बार मिलने पर एक-सा आनंद होना चाहिए। वह होता नहीं। मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि पेगन समाजों में आधुनिक भोगवादी सभ्यता की ऐसी कई आलोचनाएँ पहले से ही उपस्थित रही हैं जो गाँधीजी की आलोचना से भिन्न हैं।

सुरेश : एक तरह से आधुनिक कल्पना में इसकी पहचान है कि सुख एक विशेष वस्तु में नहीं, वस्तु विशेष में है। अपार वस्तुओं की सम्भावना में सुख है। ऐतिहासिक प्रक्रिया द्वारा इसी प्राचुर्य की तरफ़ जाया जाता है। इस प्रक्रिया की कोई सीमा नहीं। यहाँ एक टेढ़े रास्ते से असीम में आनंद की स्वीकृति है। पर असीम की पहचान और प्रमाण सीमित वस्तुओं में है। आधुनिक प्रक्रिया सीमित वस्तुओं को असीम बनाने की है। इसी में सार्विकता का वास है। इसी में आनंद है, संतोष है।

उदयन : इसमें यह बात ध्यान देने की है कि पेगन दृष्टि में अनंत या असीम की अवधारणा कुछ इस तरह है कि वह हर क्षण उपलब्ध है लेकिन आधुनिक कल्पना में, जैसा कि आपके विचारों से प्रकट हो रहा है, अनंत या असीम केवल सम्भावना के रूप में उपलब्ध रहता है।

सुरेश : आधुनिक दृष्टि में यह प्रयास है कि अनंत की उपलब्धि की प्रामाणिकता के लिए ठोस वास्तविकता होना चाहिए। इस ठोस वास्तविकता की खोज आधुनिकता ने की और इसमें बेहतर फैलाने की निरंतर चेष्टा की। जबकि पेगन परम्पराओं में 'असीम' बोध के स्तर पर जीवंत रहता है, उसका वास्तविक स्वरूप कुछ भी हो सकता है और कुछ नहीं भी हो सकता है। इन दोनों के बीच बुनियादी अंतर है। दूसरी बात यह है कि आधुनिक कल्पना की आकांक्षा और दावा यह है कि मानव इतिहास में मनुष्य चीज़ों का मानक है। मनुष्य के अनुसार ही चीज़ें बनेंगी, जो उसकी इच्छा हो, जो उसकी आवश्यकता हो, जो उसे अच्छा लगे, जिसकी उसे चाहत हो, उसे मनुष्य को हासिल कर सकना चाहिए, आज नहीं तो कल। इस प्रक्रिया से जिस वास्तविकता ने आकार लिया है, उसमें वस्तुएँ ही जीवन का मानक बन गयी हैं। यह बिल्कुल ही विपरीत दिशा में परिणत हुई घटना है। मनुष्य को वस्तु का मानक बनाने की प्रक्रिया का परिणाम वस्तु का मनुष्य के लिए मानक बन जाने में हुआ है। यहाँ एक ऐसे यथार्थ की रचना हुई है जिसका मानक वस्तु हैं। इसलिए आपके मानवीय मूल्य इस बात से निर्धारित होने लगे हैं कि आपके पास क्या-कैसी वस्तुएँ हैं। यह निर्धारण केवल व्यक्ति के लिए नहीं, पूरे समाज के लिए हो गया है। समाज का मूल्यांकन अब इस बात से होता है कि वह किस स्तर की वस्तुएँ या उपकरणों का उपयोग करता है।

उदयन : समृद्धि मनुष्य में हमेशा से ही चाहना के रूप में रही आयी है। पर समृद्धि की धारणा कभी-भी सभी के लिए एक-सी नहीं रही। इस दृष्टि से क्या यह कहा जा सकता है कि पेगन समाजों के समृद्धि बोध और आधुनिक समृद्धि बोध में कुछ मूलभूत अंतर आया है। अगर हाँ, तो आप इस अंतर को किस तरह देखते हैं ? यह कहना तो शायद ग़लत होगा कि आधुनिकता से पहले कभी समृद्धि थी ही नहीं, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि वहाँ दूसरी तरह की समृद्धि थी। ऐसा कोई

समय नहीं है जब समृद्धि की स्वीकृति और चाहना और प्राप्ति न रहे हों। पर समृद्धि की धारणा में कोई मूलभूत अंतर अवश्य आया है।

सुरेश : आधुनिक और पेगन को हम आधुनिक और पूर्व–आधुनिक कह सकते हैं। इस मामले में सामी परम्पराएँ आधुनिक परम्पराओं से बहुत भिन्न रही हैं और कई स्तरों पर आधुनिक और पेगन परम्पराओं में कुछ सामंजस्य भी है। आधुनिक परम्परा का यह एक अद्भुत दावा था कि यह इतिहास में पहली बार होगा जब पूरी मानव–जाति समृद्धि में जी सकेगी।

उदयन : यहाँ समृद्धि का आशय वस्तुओं का अपार भण्डारण है ...

सुरेश : हाँ। यहाँ वस्तुओं के ऐसे अपार भण्डारण की कल्पना है जो समय के साथ बढ़ता ही जाएगा और साथ ही वस्तुओं के गुणात्मक तत्त्व भी प्रखर होते जाएँगे। यानि सिर्फ़ वस्तुओं की संख्या में ही बढ़ोतरी नहीं होगी, ज़्यादा से ज़्यादा बेहतर वस्तुएँ वास्तविकता का अंग बनेंगी। ऐसा हुआ भी। इस कल्पना की पूर्ति के लिए दो–तीन चीज़ें बहुत ज़रूरी थीं। पहली आवागमन के साधनों का परिष्कार। एक जगह से दूसरी जगह जाने की गति में निरंतर तेज़ी लाना और समूचे विश्व को आवागमन की व्यापक व्यवस्था में संयोजित कर देना। आवागमन की यह सार्विकता एकीकरण पर आधारित है। इसके पीछे यह विचार है कि पहले विश्व को एक किया जाए ताकि उसके आधार पर सार्विकता विकसित की जा सके।

पेगन दृष्टि में इस तरह के एकीकरण की कोई आकांक्षा नहीं थी। दूसरी बात यह है कि आधुनिकता में यह मान्यता है कि मूल्य का अर्जन मानव प्रयास से होता है। जैसे मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य मानवीय श्रम से प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए अगर कोई एक लकड़ी का लट्ठा है, उसे काटा जाता है, तराशा जाता है, इस तरह मानवीय प्रयास से उसे जब एक रूप दिया जाता है, उसका एक मूल्य होता है। उसके और सामान्य प्राकृतिक स्थिति के मूल्य में बड़ा अंतर होता है। यही अंतर अतिरिक्त मूल्य है। यह अतिरिक्त मूल्य मानवीय श्रम से आता है। इस दृष्टि से सारे मूल्य मानव श्रम में निहित हैं। यह आधुनिक बोध सिर्फ़ मार्क्स तक सीमित नहीं था। मार्क्स ने तो सिर्फ़ इस विचार को एक बड़ी तीखी अभिव्यक्ति दी। आधुनिक कल्पना में इस विचार की यह अभिव्यक्ति इतनी सटीक थी कि उसका व्यापक होना स्वाभाविक था। यहाँ यह विचार है कि प्रकृति में कोई मूल्य निहित नहीं है। इसलिए पर्यावरण का प्रश्न बहुत देर से उठ सका। मनुष्य जाति के कुछ श्रेष्ठ मस्तिष्क प्रगति के विचार और आधुनिकता पर एकाग्र रहे हैं लेकिन उन्हें भी यह पहचान नहीं थी कि मूल्य के स्रोत कहाँ है।

मनुष्य की अपनी उपस्थिति तो उसके श्रम की देन नहीं है। वह कहानी तो कहीं और से शुरू होती है। ऐसा विचार या कल्पना भी है कि एक दिन समूचा मानवीय जीवन मानवीय आवश्यकताओं के अनुसार ही तैयार किया जाएगा। अगर वहाँ तक भी हम पहुँच जाते हैं, तो भी हमें कोई शुरुआती बिंदु तो चाहिए ही होगा। फिर वह कोशिका हो या जीन। तब प्रश्न यह है कि ये चीज़ें कहाँ से आती हैं? भौतिक सामग्री को मानवीय श्रम रूपांतरित तो कर सकता है लेकिन वह उसे शून्य से सृजित नहीं कर सकता। मानवीय श्रम को इस शून्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। जब आप यह कहते हैं कि मैंने 'कुछ नहीं' से 'कुछ' बना दिया तब आपको कुछ नहीं को कहीं तो अवस्थित करना होगा, पर वह असम्भव है। चूँकि वह असम्भावना है इसलिए मानवीय श्रम चाहे जितना शक्तिशाली या परिष्कृत क्यों न हो, शुरुआत के लिए 'कुछ' चाहिए, कुछ भौतिक सामग्री। यह सामग्री प्रदत्त हुआ करती है, इसे मानवीय श्रम रच नहीं सकता। और बिना उसके न मूल्य सम्भव है, न जीवन। इस विडम्बना का आधुनिक कल्पना में कोई दार्शनिक स्थान नहीं है।

आधुनिकता की अपार कोशिश इस बात में है कि पहली बार यह दावा हुआ कि इस श्रम से जो अपार उपलब्धि की सम्भावना है, वह पूरे मानव जगत को प्राप्त हो सकती है। अगर हम सब कुछ ठीक से कर पाएँ तो समृद्ध मानव जीवन पूरी मानव जाति को प्राप्त हो सकता है। आश्चर्य की बात यह

है कि इसी आधुनिक जगत में (जिसे शुरू हुए दो सौ बरस से अधिक नहीं बीते हैं) कोई भी यह नहीं कह सकता कि यह आधुनिक जगत पाँच सौ बरस चल सकेगा या हज़ार बरस। पचास-सौ साल से आगे की बात कोई नहीं करता। आधुनिकता में मूल्य के स्रोतों और आधार की दार्शनिक पहचान नहीं है। वह आधार भी 'अनंत' होना चाहिए। अगर वह अनंत नहीं है तब यह कल्पना बहुत समय तक नहीं चल सकती। अब यह कोई भी नहीं कह सकता कि असीम सम्भावना का भौतिक-वास्तविक आधार भी असीम है। आज पानी और हवा जैसे आधारभूत तत्त्वों के बारे में भी कोई यह दावा नहीं कर सकता कि वह हरेक को पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराए जा सकते हैं। पहले कम से कम हवा के लिए यह संकट नहीं था। कोई नहीं कह सकता कि हवा सबके लिए बराबर नहीं है। ऐसी कोई स्थिति मानव कल्पना में कभी नहीं रही। किसी विशेष परिस्थिति में जैसे कहीं आग लगी हो तब यह स्थिति आ सकती थी पर वह अलग बात है।

उदयन : आपने आधुनिक कल्पना के जो कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व और दार्शनिक आधार स्पष्ट किये हैं, उसकी रोशनी में आधुनिक समाजों और आज भी पारम्परिक समाजों के संबंध का क्या स्वरूप बनता है ? आपने अपनी पुस्तक *ट्रायबल आइडेंटिटी ऐंड मॉडर्निटी* में चार्ल्स डार्विन के विकासवादी सिद्धांत का ज़िक्र करते हुए कहा है कि आधुनिकता की अवधारणा में यह बात निहित है कि आदिवासी समाज समय रहते विनष्ट होकर रहेंगे। हम सिर्फ़ इस प्रक्रिया के साक्षी और उसके पूरे होने की प्रतीक्षा में हैं। लेकिन आज इन समाजों और आधुनिक चेतना-सम्पन्न समाजों के संबंधों का क्या स्वरूप आप देखते हैं ? इन संबंधों में दोनों ओर किस तरह के ख़तरे या सम्भावना आपको नज़र आते हैं ?

सुरेश : जिन्हें हम अंग्रेज़ी में 'प्रिमिटिव' समाज कहते हैं, उनका दार्शनिक सत्य क्या है, उनके स्वबोध में अस्तित्व का सत्य क्या है ? उस अस्तित्वगत सत्य के संदर्भ में बात की जा सकती है और यह भी कि उसकी पहचान कैसे हो? आधुनिक बोध के धरातल से यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि उनके अस्तित्व में कोई सत्य है भी, या नहीं। एक दृष्टि से नहीं ही है। इसे पहचानने की दो आधुनिक विधाएँ हैं। एक है इतिहास की विधा, दूसरी नृत्तत्वशास्त्र। इतिहास की विधा का अपना इतिहास बहुत पुराना है। वह कम से कम दो हज़ार साल पुराना है। इस विधा की कई परम्पराएँ रही हैं। दो-तीन का नाम लेना उचित होगा: चीन की इतिहास लेखन परम्परा और उसी से जुड़ी इतिहास विश्लेषण-विमर्श की परम्परा, दूसरी यूनान और तीसरी रोम की इतिहास परम्परा रही है जिसे ईसाई धर्म के वर्चस्व के बाद विशेष दिशा, अभिव्यक्ति और स्थान मिला। ऐतिहासिक विमर्श की एक परम्परा इस्लाम में भी रही है। नृत्तत्वशास्त्र का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। विधा के रूप में वह आधुनिक युग की उपज है। इन दोनों विधाओं के दार्शनिक आधारों के बीच द्वंद्व है।

इतिहास का दार्शनिक आधार यह है कि अर्थ, संदर्भ की उपज होता है। संदर्भ कई प्रकार के होते हैं और वे बदलते रहते हैं। बदलते हुए संदर्भ ही इतिहास की प्रक्रिया को इंगित करते हैं। इतिहास की प्रक्रिया को समझने के लिए बदलते संदर्भों की पहचान को ठोस और सुदृढ़ करने की चेष्टा करना अनिवार्य है। पर यह सवाल रहता है कि स्वयं संदर्भ किस धरातल की उपज हैं। अगर जीवन का समूचा अस्तित्व संदर्भ की देन है तो संदर्भ से परे जाने की क्षमता भी संदर्भ से ही आती होगी। यह कैसे सम्भव होता है। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या संदर्भ की समझ संदर्भ के भीतर की ही उपज होती है ? इन सारे प्रश्नों को थोड़ी देर के लिए छोड़ दें।

नृतत्वशास्त्र संदर्भ को नकारता नहीं, प्रगति को भी तिरस्कृत नहीं करता पर उसकी दृष्टि ऐसे तत्त्वों पर होती है जो बदलते संदर्भों के बीच छूट जाते हैं, जिनको हम जकड़ा हुआ या जड़ संदर्भ कह सकते हैं, 'फ्रोज़न कोंटेक्स्ट जो प्रगति की प्रक्रिया में पीछे छूट गया है। जिसका अर्थ वे तथ्य हैं जिन्हें कुछ विशेष संदर्भवश कुछ सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रिया ने अनछुआ छोड़ दिया है। ध्यान योग्य यह है कि ये वे संदर्भ

हैं जो आधुनिक प्रक्रिया के लिए कुछ मायने रखते हैं, जिनका आधुनिक परियोजना में कोई उपयोग सम्भव है। यहाँ मूल्य या अर्थवत्ता बदलते हुए संदर्भों की उपज नहीं बल्कि किन्हीं संदर्भों का स्थिर हो जाना है। स्थिर संदर्भों और उनसे उपजे तत्त्वों का महत्त्व संदर्भ से कहीं दूर तक जाता है, वह इतनी दूर तक जाता है कि आधुनिक जगत के लिए भी उसमें सोचने-समझने की चीज़ें होती हैं। इसका आधुनिक चिंतन में कोई दार्शनिक आधार देना मुश्किल है। यह इस तरह मुश्किल है कि अगर अर्थ या अर्थवत्ता संदर्भ से उपजते हैं तो फ्रोज़न कोंटेक्स्ट दीर्घकाल में किसी भी तरह के अर्थ का वहन कैसे कर सकते हैं। स्वयं लेवी स्ट्रॉस, जो प्रगति से इंकार नहीं करते थे, ने नृत्तत्वशास्त्र को विलम्बित अवसाद कहा है। इसका आशय यह है कि जब आदिवासी समाज लगभग नष्टप्राय: हैं, उन्हें एक क़िस्म की गरिमा से मण्डित करने का प्रयास नृत्तत्वशास्त्र करता है। विडम्बना यह है कि गरिमा देने का यह कार्य वही आधुनिक समाज नृत्तत्वशास्त्र के सहारे किया करता है, स्वयं जिसके कारण ये समाज नष्ट होने की कगार पर आ खड़े हुए हैं। इस चीज़ को कैसे समझा जाए कि आदिवासी समाजों जैसी जकड़ी हुई वास्तविकताओं में ऐसे कुछ तत्त्व हैं जिनका अर्थ आधुनिक संदर्भों में भी होता है।

मैंने अबूझमाड़ के इलाक़े में नवें दशक में कई बरसों काम किया है और उस पर लिखा भी है। उस इलाक़े में जीविकोपार्जन का माध्यम ब्योहार खेती (जिसे अंग्रेज़ी में शिफ्टिंग कल्टीवेशन कहा जाता है) और शिकार था। ब्योहार खेती के लिए आदिवासी इलाक़ों में कई शब्द प्रयुक्त होते हैं, उनमें सबसे लोकप्रिय 'झूम' है। अबूझमाड़ के इलाक़े में उसे पेंदा कहते हैं। उसी से मिलता जुलता शब्द, 'पौदु' उससे लगे हुए उड़ीसा के इलाक़े में प्रयुक्त होता है। पेंदा हमेशा पहाड़ की ढलान पर होता है। पेंदा के विषय में आधुनिक बोध में यह मान्यता है कि यह अत्यंत विनष्टकारी है। पिछले दो सौ बरस में इसे ख़त्म करने के अनेक प्रयास होते रहे हैं। अस्सी के दशक में अबूझमाड़ ऐसे बहुत थोड़े से बच रहे इलाक़ों में रहा होगा जहाँ पेंदा अपने लगभग शुद्ध रूप में व्यवहृत होता था। बाक़ी जगह जो ब्योहार खेती झूम के नाम से की जाती थी, वहाँ ऐसा शुद्ध रूप नहीं बचा था। ध्यान दें, पेंदा ढलान पर हुआ करता है। ढलान पर खेती की मुख्यत: दो विधाएँ रही हैं, ब्योहार और टैरिस कल्टीवेशन। ये विधाएँ तरीक़े भारत में ही नहीं, पूरी दुनिया में प्रयुक्त होती थीं।

ब्योहार खेती को युरोप में 'स्लेश ऐंड बर्न' खेती कहा जाता है। युरोप के उत्तरी भाग जिसे आज फिनलैण्ड के नाम से जाना जाता है, और अन्य बॉल्टिक क्षेत्र के कुछ हिस्से हैं, वहाँ स्लेश एण्ड बर्न आज से हज़ार साल पहले तक व्यापक रूप से किया जाता था। फिनलैण्ड में वह अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक कहीं-कहीं बचा रहा। ढलान पर पेंदा करने के दो ढंग रहे हैं, सीढ़ीदार खेती और शिफ्टिंग खेती। सीढ़ीदार खेती में ढलान के कुछ हिस्सों को समतल बनाया जाता था। ढलान पर छोटे-छोटे समतल टुकड़े खेती के लिए तैयार किये जाते थे। शिफ्टिंग खेती में ढलान को जैसे का तैसा रखा जाता था। जिस हिस्से में खेती करनी हो उस हिस्से के जंगल को काटा जाता था। कटी हुई लकड़ी को वहीं छोड़ दिया जाता था। बड़े-बड़े पेड़ों के खूँटों को निकालने की कोई कोशिश नहीं की जाती थी, उन्हें वहीं छोड़ दिया जाता था। जब लकड़ी-पत्ते सूख जाते उनमें आग लगा दी जाती है। इसीलिए इस खेती को युरोप में स्लेश ऐंड बर्न खेती कहा गया। उसकी राख की तह में बीज डाले जाते थे, बारिश के बाद जब वह बीज पनपता था, राख खाद का काम करती थी। फ़सल काटने के बाद खेती के लिए साफ़ किये जंगल के टुकड़े को फिर से जंगल बनने की अपनी गति में छोड़ दिया जाता है। आठ-दस साल बाद अगर आप एकाध किलोमीटर की दूरी से उस साफ़ किये हिस्से को देखते तो आप पाते कि वह बाक़ी जंगल से एकाकार हो गया है।

दूसरी बात यह है कि इन खेतों में एक से अधिक फ़सल एक साथ बोई जाती थीं। केवल इतना ध्यान रखा जाता था कि एक समय पर पकने वाली फ़सलें न लगायी जाएँ, या जब वे पकने पर आएँ, उनकी ऊँचाई में फ़र्क़ हो ताकि दोनों की कटाई अलग-अलग हो सके। तीसरी बात यह थी कि इन

खेतों से खरपतवार नहीं हटाए जाते थे, उनमें 'वीडिंग' नहीं की जाती थी। उनमें खाद भी नहीं डाली जाती थी। कोई सिंचाई नहीं की जाती थी, जितना पानी पड़ा उसमें जितना अनाज होना है, होता। इससे दो-तीन चीज़ें होती थीं : पहली यह कि इस क़िस्म की खेती में अनाज की वे ही क़िस्में बची रह सकती थीं जिन्हें अधिक देखरेख की आवश्यकता न पड़ती हो। इस क़िस्म की खेती में मानवीय हस्तक्षेप न्यूनतम होता था। मनुष्य की भूमिका केवल बीज बोने, फ़सल काटने और जंगली जानवरों से उसकी रक्षा करने तक सीमित थी। वे खेत एक मायने में जंगल की तरह ही होते थे। हम यह कह सकते हैं कि वे जंगल का ही एक रूप थे। उनमें एक बार में तीन-चार फ़सलें बो दी जाती थीं और वे एक-दूसरे से संघर्ष करते हुए पनपती थीं। इसीलिए अगर बीजों में अपनी ताक़त न हो, वे बचते नहीं थे। इस दृष्टि से वहाँ बीज बहुत शक्तिसम्पन्न हुआ करते थे। उनमें कीड़े आदि नहीं लगते थे और फ़सलें पूरी तरह कभी भी विफल नहीं होती थी, उतार-चढ़ाव अवश्य होते थे। कभी बारिश ठीक आयी तो फ़सल अधिक, कभी कम आयी तो कम। इसलिए ब्योहार खेती के इलाक़ों में अकाल कभी नहीं पड़ता था। यह एक पुष्ट ऐतिहासिक तथ्य है। ब्योहार खेती के इलाक़ों में उन्नीसवीं शताब्दी तक अकाल पड़ने का कोई साक्ष्य नहीं है। यह खेती मानवीय उपक्रम के सहारे वन की मानव-रचना का प्रयास है, वन का वामन-सृजन। इसका दार्शनिक आशय यह है कि मानवीय उद्यम के लिए भी यह सम्भव हो सकना चाहिए कि वह प्रकृति की ही तरह हमेशा ही जारी रह सके। यह एक चरम अलगाव में रह रहे समाज की गहनतम अनुभूत सार्विकता (यूनिवर्सेलिटी) की अभिव्यक्ति है।

हर सम्भव सावधानी बरती जाती थी जिससे मनुष्य प्रकृति पटल पर अपने पद-चिह्न कम से कम छोड़े। प्रयास यह होता था कि मानव की उपस्थिति के चिह्न इतने हल्के हों कि कुछेक वर्षों में ही पुछ जाएँ। लेकिन अब मनुष्य की उपस्थिति के चिह्न इतने हल्के होते हैं, सभ्यता का निर्माण नहीं हो पाता। यह नहीं कि वे लोग असभ्य रहे हों पर यह अवश्य है कि उनकी सभ्यता के प्रमाण और तत्त्व नितांत अलग ढंग से अवस्थित और संरचित किये जाते थे। इसलिए हम जो सभ्यता की दैनिक क्रिया और स्थान के संबंध की बात कर रहे थे, वह यहाँ केवल प्रतीकात्मक हो सकती है। उसका ऐतिहासिक रेखांकन नहीं हो सकता। आप यह कह सकते हैं कि इस पहाड़ी पर 'पेंदा' होता है या इस इलाक़े में, या यह भूमि हमारी है लेकिन इलाक़े में किस विशेष स्थान पर कोई विशेष दैनिक कर्म होता है, यह इंगित करना सम्भव नहीं हो पाता। इन समाजों में विशेष स्थानों की पहचान प्रतीकात्मक होती है। उनके इष्टदेव का कोई स्थान होगा लेकिन दैनंदिन जीवन में स्थान की कोई विशिष्ट स्मृति वहाँ नहीं होती। उनकी उपासना के लिए कोई भी नदी उपयुक्त हो सकती थी, कोई भी पर्वत या कोई भी स्थल। उनकी कोई विशिष्ट पहचान नहीं होती थी ...

उदयन : उन्हें रेखांकित नहीं किया जा सकता ...

सुरेश : मैं यहाँ यह कहना चाहता हूँ कि जिस 'ब्योहार' खेती को, सबसे पिछड़ी जीवन शैली कहा जाता है, उसमें भी सार्विकता का दार्शनिक आधार निहित है। यह पेगन सार्विकता का एक गहन प्रमाण है। हम इसे गहन अर्थ में नित्य सनातन पेगन सार्विकता के प्रमाण कह सकते हैं।

उदयन : हम आधुनिक समाज और आदिवासी कहे जाने वाले समाजों के संबंध के बारे में बात कर रहे थे ...

सुरेश : आधुनिक समाज का जैसे ही विस्तार होना शुरू होता है, आदिवासी कहे जाने वाले समाजों की अपनी प्रक्रियाओं के लिए संकट उत्पन्न हो जाता है। संकट का पहला स्रोत यह है कि आधुनिक जगत को यह लगता है कि वहाँ बहुत कुछ ग़लत हो रहा हैं और उसे समाप्त करना चाहिए। आधुनिक जगत हर चीज़ को, हर प्रकार के मानव या प्राणी अस्तित्व को अपनी निर्मिति का ही अंग

बनाना चाहता है। आधुनिक दृष्टि में उसकी संरचना और उसकी अर्थ-गुण की कल्पना के बाहर किसी भी चीज़ के जीवित रहने का कोई प्रयोजन हो ही नहीं सकता।

लेकिन मैं इसके अलावा संकट के दूसरे स्रोत की बात करना चाहता हूँ। आधुनिक समाज के सम्पर्क की छाया में आदिवासी समाज की अपने अस्तित्व के मूल आधार पर से आस्था ख़त्म होती जाती है। आधुनिक जगत की कशिश इन समाजों में भी बहुत गहरी हो गयी है। आधुनिक जगत की उपलब्धियों के प्रति उनमें भी गहरी कशिश है। एक बार जब यह कशिश उत्पन्न हो जाती है, उनकी अपने समाज के आधारों के प्रति आस्था ध्वस्त हो जाती है, अपने समाज के मूल्यों के प्रति विश्वास खण्डित हो जाता है। अपने स्वरूप की चाहना समाप्त नहीं होती, वह अतीत व्यामोह की तरह बची रहती है, पर उसमें उनकी आस्था समाप्त हो जाती है। सबसे गहन और कठिन संकट इसी से पैदा होता है। जब वे आधुनिक समाज के घेरे में आते हैं, उनका संबंध या कहें, उनके लिए आधुनिक जीवन में स्थान आधुनिक कौशल के निम्नतम स्तर से ही बन पाता है। आदिवासी समाजों को यदि आधुनिक कौशल को अपनाना है, तो इन्हें अपने कौशलों को तो छोड़ना ही होगा, इसके अलावा कोई विकल्प नहीं है। इसलिए वे आधुनिक बाज़ार में कौशलविहीन व्यक्ति की तरह प्रवेश करते हैं जो आधुनिकों के लिए कुछ अनोखे-से लगते मनुष्य होते हैं।

अजीब बात है कि वैचित्र्य मूल्य के कारण ही आधुनिक मानस उनमें कुछ टेढ़ी-सी रुचि लेता है। उदाहरण के लिए लोग उनके संगीत में रुचि लेने लगते हैं और इस तरह वह संगीत जीवंत हो जाता है। कुछ अधिक संवेदनशील लोग उनमें कहीं अधिक गहराई से रुचि लेने लगते हैं। लेकिन वह आधुनिक जगत के हाशिये की संवेदनशीलता है जिसका आधुनिकता पर विशेष बल नहीं है। इन दोनों समाजों के बीच के संबंध के ढाँचे का निर्धारण आधुनिक जगत की प्राकृतिक संसाधनों की ज़रूरतें हैं, जो इन आदिवासी समाजों से संबंधित इलाक़े उपलब्ध कराने में सक्षम होते हैं। आधुनिक दुनिया आदिवासी समाजों के प्रति हिकारत भी रखती है, सहानुभूति भी, दया भी। लेकिन उस अस्तित्व में निहित गहन और नित्य सत्य की पहचान और स्वीकार आधुनिकता में नहीं है। वहाँ उन समाजों के प्रति गहरी सहानुभूति हो सकती है, दया भी, लेकिन उन समाजों में निहित गहन सत्य जो उन्हें सौंदर्य प्रदान करता है, उसकी यहाँ न पहचान है, न स्वीकार। अगर आप इस संबंध को आदिवासी जगत के भीतर से देखें तो आप पाएँगे कि वहाँ आधुनिकता के प्रति सम्मोहन है, उसके प्रति गहरा आकर्षण है, उसके प्रति रोष है, भय भी है लेकिन वहाँ भी स्वयं अपने अस्तित्व में निहित जो सत्य हैं, उनकी पहचान क्षीण हो रही है। प्रायः विलुप्त हो चुकी है। कहीं-कहीं वह अवशेष के रूप में जीवित बची हुई है।

आदिवासी अस्तित्व में निहित सत्य की पहचान और स्वीकार न तो उन समाजों के बाहर है और न ही उनके भीतर ही। इस पहचान और स्वीकार का धरातल अब केवल आदिवासी समाजों के भीतर से आ भी नहीं सकता। वह तभी आ सकता है जब बाहरी और भीतरी तत्वों के बीच संवाद हो। इसी संवाद से ही उस अब धरातल के बनने की कोई उम्मीद है। पर इस संवाद को बनाने की सम्भावना बहुत क्षीण और बिखरी हुई हैं। उसका पारिभाषिक संदर्भ शोषण विवेचन एवं शोषण प्रतिरोध संरचना से अधिक कुछ नहीं है। लेकिन अकाट्य विडम्बना तो यह है कि आदिवासी समाजों में अपने सत्य की पहचान नहीं है। सहानुभूति की दृष्टि से इन समाजों का अध्ययन अधिक से अधिक शोषण की राजनीति की सैद्धांतिकी बनाने में होता है। लेकिन इस राजनीति और सिद्धांत की आकांक्षा अधिक शुद्ध और निर्दोष आधुनिकता की प्राप्ति ही है। चेष्टा यह है कि आदिवासी समाज भी आधुनिकता में किसी हद तक बराबरी के साथ शामिल हो सकें।

उदयन : फिर उनके जीवन जीने और सौंदर्य के दार्शनिक आधार या सत्य छूटते हों तो छूट जाएँ ... बल्कि इस राजनीति और सिद्धांत का आशय यह है कि ये आधार जब तक छूटते नहीं हैं तब तक

वे आधुनिक संसार में समान दर्जा पाने में सफल नहीं हो पाएँगे।

सुरेश : आपका कहना सही है, यहाँ आधुनिक परिवेश के प्रति इतनी गहरी आस्था है कि यहाँ उन समाजों के सत्य को पहचानने की दीर्घ दृष्टि और स्वीकारने के धैर्य का कोई अवकाश नहीं है।

उदयन : अब हम अपने उस प्रश्न पर लौटें जो हम काफ़ी देर से स्थगित करते आ रहे हैं। आपने चीन की बात करते हुए यह कहा था कि वहाँ दैनिक कर्म और दैनिक क्रिया, दर्शन और स्थान संयुक्त हैं, या कहें अंतर्संबंधित हैं। इसी से, आपने कहा था, सभ्यता का निर्माण होता है। भारत में यह संबंध सांकेतिक रहा है। यहाँ मैं प्रसिद्ध दार्शनिक और हमारे मित्र रामचंद्र गाँधी का एक विचार याद करना चाहता हूँ। उन्होंने लिखा है कि भारत में हम लोग अपने दैनंदिन जीवन में अपने एक विशिष्ट सभ्यता के सदस्य होने के बोध की तीव्रता में नहीं रहते। हमारे दैनंदिन व्यवहार में अपने इस सहकार की स्मृति प्रबल नहीं है जैसी कि युरोप में या चीन में है। रामचंद्र गाँधी के इस प्रश्न का उत्तर मुझे आपके वक्तव्य में दिखाई दे रहा था। भारत एक सभ्यता है इसमें कोई शक नहीं। पर उसके चीन जितने आत्मचेतस न हो पाने के कारण पर आप प्रकाश डालें। या कि आपकी दृष्टि में यह बात सिरे से ही ग़लत है।

सुरेश : रामचंद्र गाँधी की विचार शैली हमारे और हमारी सभ्यता के अस्तित्व के गहनतम धरातल को आलोकित करती है। सभ्यता के चिह्न और बिम्ब सभ्यता के भावबोध को लक्षित भी करते हें, ऊर्जस्वित भी करते हैं और उसे क्रियाशील भी करते हैं। मैं यह प्रश्न उठाना चाहता हूँ कि युरोप, भारत और चीन में स्थान विशेषज्ञ और उसकी प्रतीकात्मकता के रूप और स्तर किस तरह से भिन्न हैं? नतृत्वशास्त्र में दो शब्दों का प्रयोग होता है : संस्कृति और सभ्यता। संस्कृति का पुरातत्वशास्त्र नहीं होता। संस्कृतियों में अपने अवशेष छोड़ने की सम्भावना बेहद अलग स्तर की होती है। वहाँ कारीगरी का महत्त्व होता है, स्थल का नहीं होता। वहाँ स्थल का महत्त्व केवल प्रतीकात्मक होता है। वहाँ इष्ट या आराध्य की कल्पना, अनंत के बोध और अभिव्यक्ति से जुड़े कुछ स्थल अवश्य होते हैं। वह कोई पर्वत हो सकता है, नदी हो सकती है, कोई विशेष स्थल भी हो सकता है। इस दृष्टि से भारत की सभ्यता का विशेष स्थान है। यह एक ऐसी सभ्यता है जिसका साभ्यतिक ढाँचा अपेक्षाकृत कमज़ोर है। सभ्यता के जो भी लक्षण माने जाते हैं, वे सब यहाँ हैं भी और बहुत पुष्ट भी नहीं है। उनकी तात्विकता युरोप और चीन की तुलना में कमज़ोर क़िस्म की है। हमारे पास नगरों का इतिहास है जो काफ़ी पीछे तक जाता है। पर उसमें एक बड़ा अंतराल है। सिंधु घाटी के बहुत बाद में नगरों का इतिहास क़रीब बुद्ध के काल से शुरू होता है, बल्कि बुद्ध के काल के कुछ बाद।

सभ्यता के विचार का प्रस्थान बिंदु नगर है। सभ्यता की कल्पना और उपक्रम के विचार का केंद्र नगर होता है। आप नगर के बिना सभ्यता की कल्पना नहीं कर सकते। संस्कृति के लिए नगर का होना या न होना बहुत महत्त्व का नहीं है। उसमें गाँव की उपस्थिति हो सकती है, नहीं भी हो सकती है। संस्कृति के लिए विशेष कार्यों के निमित्त विशेष स्थलों की पहचान आवश्यक नहीं है। उसके लिए कुछ प्रतीकात्मक स्थल पर्याप्त हैं। ये प्रतीकात्मक स्थल मानवीय उपक्रमों के सहारे निर्मित नहीं हुए होते। वे मानवीय स्मृति में अपना स्थान अवश्य बनाते हैं और उसकी आभा गहन ही नहीं दिव्य हो सकती है; जैसे मानसरोवर और केदारनाथ। उनमें शक्ति का नियोजन मानवीय संबंधों की निरंतरता से होता है और इन संबंधों के स्वरूप में सशक्त नैरंतर्य होना आवश्यक है। बिना उसके इन स्थलों में अनुगूँजें नहीं व्यापती। अगर हम रोमन सभ्यता को देखें या हम प्राचीन मिस्र या बेबिलोनिया की सभ्यता को देखें तो हम पाएँगे कि वहाँ विचार और ध्यान के केंद्र कुछ महान नगर हैं जैसे रोम या एथेंस या स्पॉर्टा या निनवेह। लेकिन जब आप भारतीय सभ्यता के विषय में सोचते हैं तो यह नगर बनारस हो सकता है पर, यहाँ का पारिभाषिक तत्त्व वे नदियाँ हैं, मानसरोवर है, या कुछ तपोवन हो सकते हैं जिनका केंद्रीय स्थल सम्भवत: हमेशा ही अनिर्धारित बना रहेगा। इसलिए वे एक तरह के

रूपकात्मक काल्पनिक स्थल बने रहते हैं और इस अर्थ में वे अनिवार्यत: सांस्कृतिक स्थल हैं यहाँ इलाक़ों की पहचान है, भूगोल की पहचान है कुछ प्रतीकात्मक स्थलों की भी। लेकिन यहाँ की कल्पना के केंद्र में कोई नगर नहीं। अगर हम इस आधार पर देखें तो भारतीय सभ्यता का सभ्यता होने का दावा कुछ अनिश्चित सा हो जाएगा।

भारत में मानवीय बसाहट का बहुत लम्बा इतिहास है, यह पचास हज़ार साल से ऊपर, सम्भवत: एक लाख वर्ष छूता हुआ है। लेकिन तब भी इस नैरंतर्य का इस सभ्यता की कल्पना में केंद्रीय स्थान नहीं है। इसलिए इसमें सम्प्रेषण के मुख्य साधन कुछ सांस्कृतिक प्रतीक और कुछ मानक सांस्कृतिक ढाँचे ही हैं। इन मानकों का चरित्र काफ़ी सार्वभौमिक है। इनमें एक व्यापक भू-भाग जिसे भारतीय महाद्वीप कहा जाता है, की चेतना है। यह विलक्षण है। यह कल्पना के उस स्थलों से नितांत भिन्न है जिसे हम रोमन या यूनानी सभ्यता के संदर्भ में देख सकते हैं। आज हम जिसे युरोप कहते हैं, उसका यूनानी लोग कोई अर्थ अपनी सभ्यता के विचार के संदर्भ में नहीं देख पाएँगे। न ही रोमन लोग। वह यूनान जो आज के युरोप के स्रोतों में एक है, उसे आज बमुश्किल ही युरोप क़रार दिया गया। प्राचीन मिस्र की सभ्यता चार हज़ार बरस तक जीवित रही आयी जो सभ्यताओं के इतिहास में बहुत बड़ी अवधि है। अपनी निरंतरता के संदर्भ में यह चीनी सभ्यता से, युरोप से या कि भारतीय सभ्यता से भी कहीं अधिक सुदीर्घ रही है। लेकिन उसकी भौगोलिक सीमाएँ भारत की तुलना में कहीं अधिक संक्षिप्त थीं। भारतीय सभ्यता की कल्पना के मूल में मानकों का एक ऐसा ढाँचा है जो बेहद व्यापक क्षेत्र में फैले विभिन्न समुदायों के अंतर्संबंधों और क्रियाशीलता को सम्भव करता है। यह व्यापकता सिर्फ़ चीन से तुलनीय है। इस व्यापक क्षेत्र की सीमाएँ भले ही धुँधला गयी हों लेकिन उसके मर्म, अगर उसे यह कहा जा सके, का नैरंतर्य अभी भी बाक़ी है। भारत को जो चीज़ एक सभ्यता बनाती है, वह इन मानकों और सांस्कृतिक परिकल्पना की ऐसी तात्विक उपस्थिति है जो इस व्यापक महाद्वीपीय अवकाश में व्यक्तियों के छोटे या बड़े कर्मों के संदर्भ के रूप में क्रियाशील है और यह सब बिना किसी नागर केंद्रों के और बिना किसी एकनिष्ठ प्रभुता के।

सभ्यता के इतिहास में, फिर वह प्राचीन मिस्र हो या चीन या प्राचीन यूनान, सभ्यता की सम्भावना बिना परमसत्ता के नहीं है। भारतीय सभ्यता इस संदर्भ में भिन्न है। यहाँ सभ्यता बोध बहुत गहरे धरातल पर अवस्थित है। लेकिन तब भी राजनीतिक परमसत्ता और साभ्यतिक एकता के विचार एक-दूसरे में गुँथे हुए नहीं हैं। मेरे ख़याल से राजनीतिक परमसत्ता और साभ्यतिक एकता के अलग होने के कारण ही यहाँ के जीवन की हर रोज़मर्रा चीज़ में स्थल और प्रतीकात्मकता एक-दूसरे के निकट आ जाते हैं। इसके दो परिणाम होते हैं: पहला परिणाम यह है कि सांस्कृतिक रूपाकारों के सम्प्रेषण के पुनर्सृजन, कथन और पुनर्कथन की सम्भावना विविध संदर्भ और स्तरों पर निरंतर चरितार्थ होती हैं। इसीलिए जब मोनियर विलियम्स उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में संस्कृत शब्दकोश तैयार कर रहे थे, उन्हें दर्शन और भाषाशास्त्र के कुछ सूक्ष्मतम बिंदुओं को आलोकित करने सुदूर ग्रामीण इलाक़ों में जाना पड़ा, और ऐसे लोगों से मिलना पड़ा जिन्होंने अपने जीवनकाल में बहुत कम यात्राएँ की थीं। इसीलिए हमारे देश के लोग संगीत, लोक स्थापत्य और कारीगरी दक्षिण पूर्व एशिया के देशों के अलावा किसी भी अन्य देश की तुलना में कहीं अधिक जीवंत और ऊर्जस्वित बने हुए हैं। पर ऐसा कुछ चीन में नहीं है। चीन में सांस्कृतिक क्रांति के दौरान जब वहाँ के शासक लोक कलाओं को प्रोत्साहन देना चाहते थे, पीकिंग से परिकल्पक और डिजाइनर आदि देशभर में जाया करते थे। यह लोक संस्कृति की निहायत बेहूदा कल्पना है। लोकप्रिय (पॉपुलर) संस्कृति के विषय में यह बात ठीक हो सकती है। लोकप्रिय संस्कृति केंद्र से परिधि की ओर फैलती है, और इस फैलने में एक विशिष्ट लय अख़्तियार कर लेती है।

उदयन : जो लोक संस्कृति के कारण होता है ...

सुरेश : हाँ, जो लोक संस्कृति के कारण होता है। लोकप्रिय संस्कृति के भीतर सृजन की कोई आकांक्षा और ऊर्जा का अवकाश नहीं होता। उसमें जो भी ऊर्जा होती है, वह भी लोक संस्कृति से या सही रेखांकन करना हो तो हम कहें कि लोक संस्कृति के अनायास बचे अवशेषों से आती है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि लोक संस्कृति कभी भी पूरी तरह लुप्त नहीं होती। इस संदर्भ में अफ़्रीकी संस्कृति की अमरीका में नियति पर गौर करें। अफ़्रीका वासियों से उनका सब कुछ छिन गया उनकी भाषा, स्मृति, अतीत की समस्त मान्यताएँ। लेकिन नितांत विक्षिप्त स्थिति में भी उनके मूल समाज और स्मृति से उपजी संगीत और नृत्य की लय आज भी वहाँ की लोकप्रिय संस्कृति को ऊर्जा स्वित करती है। उसी तरह भाषा कभी पूरी तरह लुप्त नहीं हो सकती। भाषा को भी किसी केंद्र में या किसी संस्थान में संकुचित नहीं किया जा सकता। हमारी सभ्यता के संदर्भ में दूसरी बात यह है कि हमारे यहाँ तकनीक के स्तर पर कारीगरी की गतिशीलता कम रही है। हमारे औज़ारों में दो हज़ार सालों में बहुत कम तबदीली आयी है। चीन की तुलना में यह जड़ता कहीं अधिक है।

एक बहुत बड़ी परम्परा हमारे यहाँ उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक जीवित थी। उसके कुछ अवशेष बीसवीं शताब्दी में भी रहे। उसके अंतिम चिह्न मैंने सन् 1879 में बस्तर के अबूझमाड़ इलाक़े में देखे थे। मैं अघड़िया परम्परा की बात कर रहा हूँ। अघड़िया लोहा बनाने वाले महान कारीगर थे। जो भी लोहे के उपकरण भारत के किसान और शहरी कारीगर उपयोग में लाते थे, उसके लिए अघड़िया इस्पात ढाला करते थे। अघड़िया आदिवासी समुदाय हैं। ये हमेशा से दूर-दराज़ के इलाक़ों में ही रहा करते थे। इलाक़ा जितना दूर-दराज़ का और बीहड़ होता अघड़ियाओं की दिनचर्या उतनी ही सहज चला करती थी। अपने समय की सबसे विकसित तकनीक का वहन और व्यवहृत करने वाला समुदाय वह था जिसे आदिम समुदाय कहने का रिवाज़ है। उनकी लोहा बनाने की तकनीक बहुत लम्बे समय तक अपरिवर्तित रही आयी। आपको भारत के हर इलाक़े में लोहा बनाने की यही तकनीक हर जगह, उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक मिलती है। इसे आप तकनीक का स्थायित्व भी कह सकते हैं। पर इसी स्थायित्व के भीतर से किन्हीं ख़ास परिस्थितियों में अद्भुत परिणाम निकल सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में जब भारत के बाज़ार में औद्योगिक लोहे का प्रवेश हुआ, अघड़ियों के लोहे ने उसे क़रीब पचास-साठ बरसों तक कड़ी चुनौती दी। वे यह इसलिए कर सके क्योंकि वे बहुत ऊँचे स्तर का लोहा बनाते थे। उनका बनाया लोहा कहीं अधिक जंगरोधक और लचीला हुआ करता था। यह लोहा औद्योगिक लोहे से अपनी प्रतिस्पर्धा में क़ीमत के कारण हार गया। इसकी उत्पादन लागत अपेक्षाकृत अधिक थी।

उदयन : किन्हीं इलाक़ों में उनके लोहा बनाने पर अंग्रेज़ों ने पाबंदी भी लगाई थी।

सुरेश : एक तरह से। उन्हें वन क़ानूनों के सहारे एक ओर फेंक दिया गया था। वह क़ानूनों ने उनके कार्य को असम्भव कर दिया। फिर एक ऐसा समय आया जब उन्हें अपनी न्यूनतम जीविका हासिल करना भी मुश्किल हो गया और उन्होंने लोहा बनाना छोड़ दिया। मैंने 1979 में उनकी एक अंतिम भट्ठी देखी थी।

उदयन : मैंने मण्डला के अघड़ियाओं पर सुधांशु मिश्रा के साथ राष्ट्रीय मानव संग्रहालय के लिए, सम्भवतः आपकी ही सलाह पर एक फ़िल्म बनाई थी : मिथक-भंग। हमने उस फ़िल्म के लिए अघड़ियाओं से एक भट्ठी भी बनवाई थी। पर आप अघड़ियाओं के विषय में कुछ और बोल रहे थे ...

सुरेश : मध्य प्रदेश में सागर के पास एक झूलने वाला पुल बन रहा था। वहाँ अंग्रेज़ कलेक्टर थे पर वे समझदार व्यक्ति थे। उन्होंने यह पाया कि इतने भारी लोहे के शहतीर बम्बई या कलकत्ते से वहाँ लाना असम्भव होगा। यह भारत में रेलवे के बनने से पहले की बात है। उन्होंने अघड़ियों को

बुलाया और कहा कि मुझे इस क़िस्म का लोहा चाहिए जिसमें इतनी ताक़त होना चाहिए और उसे इतना लम्बा होना चाहिए। क्या आप ऐसा लोहा बनाने की चुनौती स्वीकार करते हैं। अघड़ियाओं ने वैसा लोहा बनाया और झूलने वाला पुल बनकर तैयार हो गया और वह काफ़ी दिनों तक वहाँ रहा। उस कौशल में श्रेष्ठ परिणाम प्राप्त करने की क्षमता थी। जबकि उसकी टेक्नॉलाजी काफ़ी आदिम थी। उस तकनीक में काम करने वाले अघड़ियाओं में ऐसा विवेक और ऐसी हिम्मत थी, कि वे इस क़िस्म की चुनौती को स्वीकार कर सके।

जिस समय भारत में रेलगाड़ियों के बनने पर बड़ी विराट बहस चल रही थी, उस समय अघड़ियाओं की परम्परा ख़त्म हो रही थी। मुझे इस बात पर बहुत विस्मय और दुःख है कि गाँधी समेत किसी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया। यहाँ टेक्नॉलॅजी की तुलना में कौशल कहीं अधिक लचीला था। एक दी हुई टेक्नॉलॉजी के भीतर कौशल नयी सम्भावनाएँ उद्घाटित करता रहा। यहाँ कौशल गतिशील रहा पर टेक्नॉलाजी अपेक्षाकृत स्थिर-सी बनी रही। प्रतीकात्मक रूपाकारों की दैनन्दिन जीवन में अनुपस्थिति का एक परिणाम यह होता है। प्रतीकात्मक स्थलों के अभाव का दूसरा परिणाम यह होता है कि जब ऐसी संस्कृति किसी नयी और अधिक शक्तिशाली उपस्थिति का सामना करती है तब उसके महान और भव्य सांस्कृतिक रूपाकारों के मानकीय ढाँचे के भीतर इसके प्रतिरोध के संस्थापन का बहुत कम अवकाश होता है।

प्रतिरोध संस्थापन की निरंतर घटती सम्भावना पर हमें गम्भीरता से सोचना होगा। स्वायत्तता और ऊर्जस्विता का संकेतन करते पारम्परिक रूपाकारों की व्यापक उपस्थिति उन्नीसवीं शती के अंत तक बरक़रार थी। लेकिन जब-जब प्रतिकूल परिस्थितियों की विवशता को चुनौती देने के लिए जब बहुत बड़ी संख्या में लोगों को एकत्र होने की आवश्यकता पड़ती है तब जो रूपाकार उनके लिए उपलब्ध हो पाते हैं, वे केवल सांस्कृतिक प्रतीकात्मक रूपाकार ही होते हैं। वे प्रतीकात्मक रूपाकार बहसों के लिए ठीक थे, जैसे कुम्भ का मेला दयानंद सरस्वती के समय तक सांस्कृतिक और राजनीतिक बहसों का स्थान हुआ करता था। लेकिन वे तमाम मुद्दों और प्रश्नों का समाधान करने के लिए एक नया संस्थागत ढाँचा उपलब्ध कराने की दृष्टि से पर्याप्त नहीं थे। जब यह स्थिति आयी, यहाँ ऐसे संस्थान का नितांत अभाव रहा, जिसकी हमारी सभ्यता के भीतर कोई दीर्घ निरंतरता रही हो।

उदयन : क्या इसका यह अर्थ है कि जब इस सभ्यता पर तुर्क या अंग्रेज़ों का आक्रमण हुआ तो वह उसे इसलिए सँभाल नहीं पाई क्योंकि इस संस्कृति की बुनावट में ही एक क़िस्म की वध्यता थी। इस संस्कृति में प्रतिरोध करने की सम्भावना इसलिए नहीं बन पाई क्योंकि इसके लिए इसके पास सांस्थानिक ढाँचा नहीं था। वे कुम्भ के मेले में बहस तो कर सकते थे पर सामूहिक कर्म के योग्य ऊर्जा नहीं जुटा सकते थे।

सुरेश : इस क़िस्म के कर्म को जारी रखने के लिए जैसी सांस्थानिक उपस्थिति की आवश्यकता होती है, वह यहाँ नहीं रही। संस्थान का संबंध स्थान से है। स्थान को दर्शन के साथ लाने की प्रक्रिया यहाँ नहीं रही।

उदयन : आपने कहा कि हमारे यहाँ टेक्नॉलॅजी लम्बे समय तक एक-सी बनी रही है। अघड़ियाओं ने लोहा बनाने की एक टेक्नॉलाजी विकसित की थी। वह तकनीक उनके अपने समुदाय की उत्पत्ति कथा से जुड़ी हुई है। उनकी तकनीक ने केवल भौतिक स्थान में ही नहीं उनके कल्पना लोक में भी जगह बना ली थी। अब जो प्रश्न है उसका अलग-अलग समाजों ने सफलतापूर्वक सामना किया होगा, हम शायद नहीं कर पाए। प्रश्न यह है कि चूँकि तकनीक कल्पना लोक की भी सदस्य बन गयी होती है इसलिए उसमें परिवर्तन करने से स्वयं अपनी उत्पत्ति कथा में भी परिवर्तन लाने की आवश्यकता होती। मसलन अघड़ियाओं की उत्पत्ति कथा कुछ यूँ है कि बारह अघड़िया भाई हुआ करते थे, वे एक

लोहे के नगर में रहा करते थे जहाँ लोहे की नदी बहा करती थी आदि। इस कथा से अघड़ियाओं के लोहा बनाने की तकनीक का बहुत गहरा संबंध था। यह हिंदुस्तान में ज़्यादातर तकनीकों के साथ रहा होगा। मैं यह सोच रहा हूँ कि कहीं ऐसा तो नहीं कि प्रतीकात्मक कल्पना लोक और वास्तविक तकनीक के इस संबंध के कारण ही तकनीक में परिवर्तन को प्रतिरोध मिला हो।

सुरेश : प्रतिरोध नहीं हुआ, बल्कि उस परिवर्तन की आवश्यकता ही महसूस नहीं की गयी। पौराणिक स्व-सृजन के जिस बोध की आप बात कर रहे हैं, वह महत्त्वपूर्ण है। लेकिन उसके कारण नवाचार की सम्भावना बंद नहीं हो जाती। सागर के निकट झूलने वाले पुल का उदाहरण मैंने आपको बताया ही है। अघड़ियाओं की एक पौराणिक कथा यह भी है कि जब जगत की सृष्टि हुई तब पृथ्वी पानी के अथाह सागर में पत्ते की तरह काँप रही थी। उसे स्थिर करने विराट कील बनाने का काम पहले अघड़िया ने किया था। जीवन को और सृष्टि को स्थिरता देने का भी काम पहले अघड़िया ने किया था। आदिवासी समाजों के बीच भी उनकी स्थिति एक स्थिर अटूट दूरी की रही।

उदयन : इस सभ्यता में प्रतिरोध को संस्थागत रूप दे पाने की अक्षमता के बीच आप गाँधी को कहाँ रखेंगे। इस देश में अंग्रेज़ों का प्रतिरोध बिखरा हुआ था और वह कोई संस्थागत रूप ले पाया हो ऐसा लगता नहीं है। इसकी इच्छा बहुत रही होगी लेकिन उस स्तर का कर्म यहाँ सम्भव नहीं हो पाया। लेकिन वैसा कुछ गाँधी के नेतृत्व में हो पाया। हमारी इस बातचीत के संदर्भ में आप गाँधी के आंदोलन को कहाँ रखते हैं और कैसे देखते हैं।

सुरेश : गाँधीजी आधुनिक युग में ऐसे पहले व्यक्ति नहीं थे जिन्होंने यह प्रयास किया। लेकिन वे उस प्रयास को जो गहरा और व्यापक धरातल दे पाए, वह गुणात्मक रूप से भिन्न था। गोपालकृष्ण गोखले ने 'सरवेंट्स ऑफ इण्डिया' सोसायटी बनाई थी। उसके नाम में ही एक कहानी है, जो सेवा के विचार को परिष्कृत करती है। सेवा करना कोई आसान और मामूली आकांक्षा नहीं है। यहाँ परिवार के बिना रहने की बात है। हमारे यहाँ संन्यास की धारणा है पर संन्यास में भी परिवार का दख़ल हो जाता है। लेकिन फिर भी यहाँ या तो परिवार है या सन्यास है। यह एक ताक़त भी है और अभिशाप भी, जिसे हम आज देख रहे हैं। आधुनिक युग के भारत में तीन व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिनके कर्म और अभिव्यक्ति में भिन्नता होने के बावजूद एक विशेष आग्रह के संदर्भ में समानता रही है : सार्वजनिक क्षेत्र में परिवार का स्थान नहीं होना चाहिए। ये तीन व्यक्ति गाँधी, जयप्रकाश नारायण और राममनोहर लोहिया हैं। गाँधी, लोहिया और जयप्रकाश की कार्य पद्धतियाँ अलग थीं और उनमें आपस में गहरे मतभेद भी थे, लेकिन इस कठिन आग्रह के प्रति वे तीनों एकमत थे कि सार्वजनिक क्षेत्र में परिवार का स्थान नहीं होना चाहिए। वे आधुनिक युग को समझना चाहते थे, उसे अपनी भूमि पर परिष्कृत भी करना चाहते थे। लेकिन उसके साथ-साथ और उसके विपरीत भी इन तीनों का भारत की दीर्घ निरंतरता से गहरा संबंध था। इस संबंध को बनाते हुए उन्होंने इसके अतीत की तीखी आलोचना भी की, उसके बिना वह संबंध गहरा नहीं होता। इन दोनों ही तत्त्वों का पुनर्सृजन, उनसे गहरा लगाव और उनकी तीखी आलोचना, गाँधीजी के हस्तक्षेप का मूलभूत आधार था।

गाँधीजी के समय तक सामाजिक सुधार और राजनीतिक सुधार के बीच गहरा द्वंद्व था। गाँधीजी ने उस द्वंद्व को समाप्त कर दिया। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात, गाँधीजी का यह विचार था कि किसी संघर्ष की वैधता इस बात में नहीं है कि विरोधी पर कितनी तेज़ चोट की जाए बल्कि वह इस बात से आती है कि आपका संघर्ष आपके अपने जीवन या कर्म और प्रयास के सत्य को किस हद तक पुष्ट करता है। इस मार्ग से वे संघर्ष के एक ऐसे रूप का सृजन कर सके जिसका मूल बिंदु चोट पहुँचाना न होकर, प्रतिरोध करना है। यहाँ चोट पहुँचाना संयोग भर हो सकता है। मैं ऐसे किसी भी अन्य उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलन को नहीं जानता जिसमें उपनिवेशवादी शासन के सदस्यों के प्रति कोई दुर्भाव न हो। यह सिर्फ़ गाँधीजी कर सके।

उन्होंने इसके लिए दार्शनिक और कर्म का संयुक्त धरातल तैयार किया। कर्म के धरातल का उन्होंने संस्थापन किया और इस तरह स्थान और प्रतीक के जिस रिश्ते का यहाँ अभाव था, उसे उन्होंने स्थापित किया। पर इस आलोचना के जो सांस्कृतिक रूपाकार थे वे पारम्परिक-सांस्कृतिक भाव से सम्बद्ध थे। ये स्थान दाण्डी यात्रा, साबरमती और सेवाग्राम आश्रम आदि की उपस्थिति से बने, उनके अलग-अलग स्थानों पर किये गये उपवासों से बने। उनके सांस्कृतिक रूपाकार वही पुराने हैं। उनमें स्थान विशेष का उतना महत्त्व नहीं है, उनके लिए वह एक अंचल है, देश है। जैसे राम का दण्डकारण्य है, गाँधीजी का नोआखली है। यहाँ संस्था निर्माण और अनायास विकेंद्रित सांस्कृतिक स्वायत्तता का अनूठा मेल है।

गाँधीजी भले ही महान उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलन के महान नायक रहे हों, उनके लेखन-अभिव्यक्ति में राष्ट्र-राज्य (नेशन स्टेट) के विषय या आदर्श पर लगभग कुछ नहीं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के महान प्रणेता सावरकर के पास संस्कृति पर कहने को कुछ नहीं। गाँधीजी का बड़ा योगदान यह रहा है कि महान राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व करते हुए कठिन से कठिन संघर्ष के क्षणों में भी उन्होंने राष्ट्रवाद के प्रति अपनी आलोचनात्मक दृष्टि को जीवंत बनाए रखा। उन्होंने 'स्व' की आलोचना के धरातल को कभी सिमटने नहीं दिया। इसका कोई और उदाहरण नहीं है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात गाँधीजी ने यह की, कि राष्ट्र आंदोलन का नेतृत्व करते हुए, उसे उस काल में अपना मुख्य कर्म घोषित करते हुए भी उन्होंने आधुनिक सभ्यता पर जो प्रश्न चिह्न लगाए, वे आज भी प्रासंगिक हैं। यह वे एक ऐसे समय में कर पाए जब उनके उस प्रश्नांकन के अर्थ और महत्त्व को पहचानने वाले उनके निकटतम सहयोगियों में भी नहीं थे। यही गाँधीजी के अकेलेपन का माप है। यह अकेलापन विराट और अति गहन स्तर का है और इसे किसी भी राजनीतिक शब्दावली में वह कितनी ही परिष्कृत क्यों न हो, व्यक्त नहीं किया जा सकता। अधिकांश विद्वान जब गाँधीजी के अकेलेपन की बात करते हैं, वे ये नहीं समझते।

उदयन : आपके कथनानुसार सभ्यताओं के बनने और बने रहने में नगरों की केंद्रीयता अनिवार्य है। इसके ठीक उलट गाँधीजी भारत के संदर्भ में गाँवों के महत्त्व को बहुत ऊँचा स्थान देते हैं।

सुरेश : नगरों के प्रतिकथन के रूप में गाँव समुदाय का रूपक बनकर आता है। वह सभ्यता के अर्थ पर होने वाली बहस में अद्वितीय हस्तक्षेप है। यह हमारे समय में गाँधीजी का बड़ा योगदान है। इसे अन्यों ने भी कहा है। गाँधीजी स्वयं यह कहते थे कि उन्होंने एक भी चीज़ ऐसी नहीं कही है जो अन्य लोग न कह चुके हों। इसे वे सहज़ गहराई से स्वीकार करते थे। लेकिन दोहराने की प्रक्रिया जिसके विषय में हमने कई स्तरों पर बात की है, अपने आप में बड़ी सशक्त प्रक्रिया है। मनुष्य के द्वारा दोहराई गयी चीज़ में अनंत सम्भावनाएँ रहती हैं और सबसे सशक्त सम्भावना सम्भवत: इसी दोहराव से उत्पन्न होती है। गाँधीजी की दृष्टि में सम्पूर्ण या नितांत नये की कल्पना असत्य है।

उदयन : गाँवों की बात उठाकर गाँधी ने सभ्यता की नयी परिभाषा की सम्भावना की पीठिका रखी थी। वह पीठिका आज भले ही टूट-फूट गयी हो ...

सुरेश : लेकिन उसका बौद्धिक कथन और दार्शनिक तत्त्व आज भी जीवित हैं।